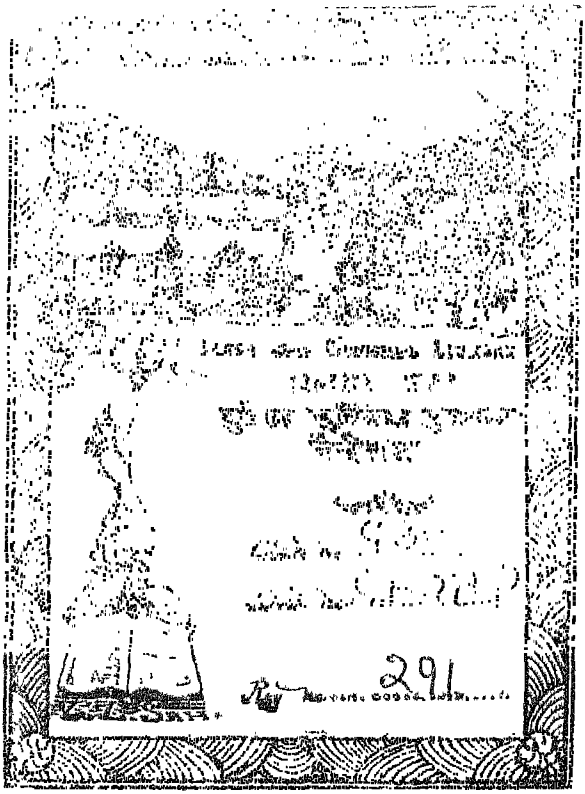

291

मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त का

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास ।

चौथा भाग ।

जिसे

गोपालदास ने

सरल हिन्दी में अनुवाद किया

और

माधो प्रसाद, पुस्तक कार्यालय, काशी, ने
प्रकाशित किया ।

1932

PRINTED BY RAMESHWAR PATHAK,
at the Tara Printing Works, Benares.

अध्यायों की सूची ।

पौराणिक काल ।

प्राचीन भारतवर्ष की

[illegible] का इतिहास ।

चौथा भाग ।

काण्ड ५

पौराणिक काल, सन् ५०० से १००० ई० तक ।

अध्याय १

विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारी ।

अब हम हिन्दू इतिहास के नाटक के अन्तिम अंक पर आ गए और उसका पर्दा एक वास्तविक बड़े दृश्य पर खुलता है। एक बड़े और स्वदेशानुरागी युद्ध का विजयी, पुनर्जीवित होते हुए हिन्दू धर्म का संरक्षक, आधुनिक संस्कृत साहित्य में जो सबसे उत्तम और सुन्दर बातें हैं उन सब का केन्द्र, सैंकड़ों कथाओं का नायक, प्रतापी विक्रमादित्य हिन्दुओं के लिये वैसाही है जैसा की फरासीसियों के लिये शारलेम्यान, अंगरेज़ों के लिये आलफ्रेड, बौद्धों के लिये अशोक, और

मुसलमानों के लिये हारन-उल-रशीद है। विद्वानों और अपढ़ लोगों के लिये, कवि या कहानी कहनेवालों के लिये, बूढ़ों अथवा बच्चों के लिये उसका नाम भारतवर्ष में ऐसा परिचित है जैसा कि किसी देश के किसी राजा या बादशाह का हो सकता है। इस राजा के नाम के साथही जिसकी सभा में कालिदास वर्तमान थे हिन्दू विद्वानों के हृदय में शकुन्तला और उर्वशी की कोमल मूर्ति का स्मरण हो उठता है। हिन्दू ज्योतिषियों के हृदय में वराहमिहिर का स्मरण और कोशकारों के हृदय में अमरसिंह के सत्कार करनेवाले राजा का सम्मान हो उठता है। और ये सब बातें उसके सच्चे प्रताप के लिये मानों काफी न होने के कारण सैंकड़ों कहानियां उसके नाम को अपढ़ और सीधे साधे लोगों से परिचित कराती हैं। आज तक भी गांव के रहनेवाले लोग छायादार पीपल वृक्ष के नीचे यह कथा सुनने के लिये एकत्रत होते हैं कि उन बत्तिस बोलनेवाली पुतलियों ने जो कि इस बड़े सम्राट के सिंहासन को उठाए हुए थीं, किस प्रकार उसके उत्तराधिकारी की अधीनता स्वीकार नहीं की और उनमें से प्रत्येक ने विक्रम के प्रताप की एक एक कथा किस प्रकार कह कर प्रस्थान किया! प्रत्येक ग्रामीण पाठशाला के छोटे छोटे बालक भारतवर्ष में अब तक आश्चर्य और स्नेह के साथ पढ़ते हैं कि इस साहसी विक्रम ने अन्धकार और भय के दृश्यों के बीच एक प्रबल बेताल के ऊपर प्रभुत्व पाने का किस प्रकार यत्न किया और अन्त में उसने अजेय वीरता, कभी न डिगनेवाली बुद्धि और कभी न चूकनेवाले साहस और आत्मनिर्भर के कारण किस प्रकार सफलता प्राप्त की।

परन्तु जब हम इसके साहित्य विषयक स्मारकों और कहानियों को छोड़कर इतिहास की ओर झुकते हैं तो हमें

विक्रम के समय और स्वयं उसकी स्थिति के विषय में भी बड़ाही गड़बड़ मिलता है। बहुत समय तक विद्वानों का यह मत था कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य का समय ईसा के लगभग ५६ वर्ष पहिले है जैसा कि संवत शब्द से जान पड़ता है। परन्तु यह सम्मति अब साधारणतः पलट गई है। फ्लीट साहब इस बात का समर्थन करते हैं कि संवत शब्द बहुत प्राचीन समय से मालव लोगों का संवत था और ईसा के ५७ वर्ष पहिले के मालव संवत का विक्रम या विक्रमादित्य के नाम से सम्बन्ध, गुप्तवंशीय पहिले या दूसरे चन्द्रगुप्त के इण्डोसीरियन लोगों को विजय करने के संदिग्ध अवशेषों के कारण हुआ।

संवत शब्द की उत्पत्ति के विषय में अब तक भी ऐसा अन्धकार है और हम इस अन्धकार को दूर करने का कार्य्य भविष्यत् के विद्वानों पर छोड़ते हैं। हमारा स्वयं यह विचार है कि कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य ईसा के उपरान्त छठीं शताब्दी में हुआ और हम संक्षेप में इस सम्मति को मानने के प्रमाण देंगे।

हुवेंत्सांग जो कि भारतवर्ष में सातवीं शताब्दी में आया प्रथम शीलादित्य का समय सन् ५८० के लगभग स्थिर करता है और विक्रमादित्य को शीलादित्य का पूर्वज बतलाता है। और इतिहासकार कल्हण जो कि बारहवीं शताब्दी में हुआ है विक्रमादित्य को कनिष्क के पीछे बीस राजाओं के उपरान्त बतलाता है जिसने की सन् १७८ से राज्य किया। हमारी सम्मति में हुवेंत्सांग और कल्हण की बातों से विक्रमादित्य के राज्य का ईसा के उपरान्त छठीं शताब्दी में होना निश्चय रूप से स्थिर हो जाता है।

अब इतिहास के विषय में हमें यह कहानी विदित है और आगे चल कर हम उस कहानी को कम से कम १०० वर्ष प्राचीन दिखलावेंगे कि विक्रमादित्य के दरबार में नौ बड़े ग्रन्थकार थे जो नौरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से वराहमिहर, वररुचि और कालिदास सब से अधिक विख्यात हैं। बराहमिहर का जन्म सम्भवतः सन् ५०५ ईस्वी में हुआ था और डाक्टर भाऊदाजी ने उसकी मृत्यु सन् ५८७ में दिखलाई है। वररुचि का अपने प्राकृत व्याकरण को पांचवीं वा छठीं शताब्दी के पहिले बनाना सम्भव नहीं क्योंकि उस समय के पहिले साहित्य की भाषा प्राकृत नहीं थी। और कालिदास के ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वह पांचवीं वा छठीं शताब्दी में हुआ जब कि पौराणिक हिन्दू धर्म बढ़ा चढ़ा था जब मन्दिरों और मूर्तियों का आदर किया जाता था और जब हिन्दू त्रिमूर्ति की पूजा की जाती थी। मनु के विपरीत, और स्पष्टतः उसके समय के बहुत पीछे, यह कवि हिन्दू त्रिमूर्ति को मानता है, मन्दिरों और मूर्तियों का आदर करता है और हन् लोगों के पञ्जाब में आकर बसने का भी उल्लेख करता है।

कालीदास के उत्तराधिकारी भारवि, दण्डिन, बाण भट्ट, सुबन्धु, भर्तृहरि—जिनके लेखों में कालिदास से इतनी समानता पाई जाती है—सब छठीं से आठवीं शताब्दी के भीतर ही हुए हैं। उनमें सुबन्धु विक्रमादित्य के विषय में लिखता है कि उसको बहुत समय नहीं हुआ।* जिन विद्वानों

* वासवदत्त के इस वाक्य पर पहिले पहिल पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने ध्यान आकर्षित किया था। उसका अनुवाद यों किया

ने इन कवियों के ग्रन्थ पढ़े हैं उनके लिये यह सम्भव नहीं है कि वे उनके और कालिदास के समय के बीच ६ शताब्दियों का अन्तर निश्चित करें । इस प्रकार वराहमिहर, वररुचि और कालिदास के ग्रन्थों से जो प्रमाण मिलते हैं उनसे भी विक्रमादित्य का समय ईसा की छठीं शताब्दी में निश्चित होता है ।

विक्रमादित्य के शक लोगों को विजय करने के सम्बन्ध में अलबरूनी, जो कि भारतवर्ष में ग्यारहवीं शताब्दी में आया था, कहता है कि विक्रमादित्य ने शक राज पर आक्रमण किया, "उसे भगाया और मुलतान और लोनी के दुर्ग के बीच कोरूदेश में उसे मारडाला" । दुर्भाग्य वश हमें विक्रमादित्य के विदेशी आक्रमण करने वालों पर विजय प्राप्त करने के विषय में केवल इतनाही इतिहास विदित है ।

परन्तु विदेशी आक्रमण करने वालों के हारने और भगाए जाने के बड़े उत्तम फल हुए और उससे उत्तरी भारतवर्ष में जो कि सैकड़ों वर्ष तक आक्रमण करने वालों से पीड़ित था शान्ति के साथ ही साथ शिल्प की वृद्धि हुई । राजाओं के दर्बार तथा बड़े बड़े नगर, विलास, धन, व्यापार और शिल्प

जा सकता है "अब विक्रमादित्य का उसके यश को छोड़ कर लोप हो गया है, राजनैतिक विचारों की उत्तमता उठ गई है, अब नए नए ग्रन्थकार वर्तमान हैं और उनमें से प्रत्येक इस पृथ्वी पर के और सब लोगों पर आक्रमण करता है जो कि उस झील के समान हो गई है जिसको की सारस पक्षियों ने छोड़ दिया हो, जहां बकपक्षी विहार नहीं करते और जहां सूर्यास्त पर कनकपक्षी इधर उधर नहीं घूमते ।

के केन्द्र हो गए, विज्ञान ने अपना सिर उठाया और आधुनिक हिन्दू ज्योतिष शास्त्र ने एक नई उन्नति प्राप्त की। कविता और नाटक ने अपना प्रकाश फैलाया और हिन्दुओं के हृदय को प्रसन्न करने लगे। स्वयं धर्म्म में और जीवनशक्ति आगई और हिन्दू धर्म्म ने अपने नए और पौराणिक रूप में लोगों को बौद्ध धर्म्म से परिवर्तित करने का यत्न किया।

बौद्ध धर्म्म ने भारतवर्ष के मुख्य धर्म्म की ओर कभी द्वेष भाव नहीं दिखाया और इन दोनों धर्म्मों के कई शताब्दियों तक साथ साथ प्रचलित होने के कारण उनका परस्पर अविरोध और भी बढ़ गया था, प्रत्येक देश में बौद्ध और हिन्दू लोग साथ ही साथ रहते थे। हिन्दू लोग बौद्धों के मठ और विद्यालयों में जाते थे और बौद्ध लोग ब्राह्मण ऋषियों से विद्या सीखते थे। एक ही राजा दोनों धर्म्मों के मानने वालों पर अनुकूल रहता था। गुप्तवंशी राजा बहुधा शिव और विष्णु के पूजने वाले थे परन्तु वे बौद्धों और बौद्ध मठों को दान, उपहार और कृपाओं से परिपूर्ण कर देते थे। यह बहुधा होता था कि कोई राजा बौद्ध हो और उसका पुत्र कट्टर हिन्दू हो और बहुधा दो भाई बिना परस्पर लड़े इन दो मतों के अनुयायी होते थे। प्रत्येक राजसभा में इन दोनों धर्म्मों के मानने वाले विद्वान होते थे, और विक्रमादित्य की सभा में भी ऐसा ही था।

हम विक्रम की सभा के महा ग्रंथकारों का वर्णन साहित्य और विज्ञान के अध्याय में करेंगे परन्तु हमारा विक्रमादित्य के राज्य का वर्णन तब तक पूरा न होगा जब तक कि हम उन ग्रन्थकारों का यहां भी, चाहे कितने ही संक्षेप में हो, वर्णन न करें।

भारतवर्ष का प्रत्येक पण्डित उस श्लोक को जानता है जिसमें कि विक्रम की सभा के नौरत्नों का नाम है * बुद्ध गया के संवत् १०१५ अर्थात् सन् ९४८ ईस्वी के एक शिला लेख में हमें निम्न लिखित वाक्य मिलते हैं—"विक्रमादित्य निस्सन्देह इस संसार में बड़ा प्रसिद्ध राजा था। इसी प्रकार उसकी सभा में नौ बड़े विद्वान् थे जो कि 'नवरत्नानि' के नाम से विख्यात हैं"। इस कथा की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है।

इन प्रसिद्ध विद्वानों में कालिदास सब से मुख्य हैं। राजतरंगिणी में लिखा है कि तोरमान की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र प्रवरसेन काश्मीर की राजगद्दी पर अपना अधिकार प्रमाणित नहीं कर सका और भारतवर्ष के इस माननीय सम्राट उज्जैनी के विक्रमादित्य ने अपनी सभा के मातृगुप्त नामक प्रसिद्ध विद्वान को काश्मीर का राज्य करने के लिये भेजा। मातृगुप्त ने अपने संरक्षक की मृत्यु तक राज किया और तब वह यती होकर बनारस को चला आया और काश्मीर में प्रवरसेन का राज्य हुआ। डाक्टर दाऊ-दाजी ने पहिले पहिल इस साहसी सिद्धान्त को प्रकाशित किया कि यह मातृगुप्त स्वयं कालिदास ही थे। इस विद्वान ने अपनी सम्मति के जो प्रमाण दिए हैं उनका विस्तार पूर्वक वर्णन करने की हमें आवश्यकता नहीं है और यहां पर इतना ही कहना आवश्यक होगा कि यद्यपि उनके प्रमाण सम्भव हैं परन्तु वे निश्चय दिलाने वाले नहीं हैं। इसके विरुद्ध काश्मीर के एक कवि क्षेमेन्द्र का एक ग्रन्थ मिलता है जिसमें कि उसने

---

* वे ये हैं धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर, और वररुचि।

कालिदास और मातृगुप्त को दो भिन्न भिन्न कवि लिखा है और इस विषय में क्षेमेन्द्र का प्रमाण निश्चित समझना चाहिए।

अब हमें भारवि कवि का वर्णन करना है जो कि किरातार्जुनीय का ग्रन्थकर्ता है। वह विक्रमादित्य के दर्बार में रहने वाला नहीं जान पड़ता परन्तु सन् ६३७ ईस्वी का एक शिलालेख मिला है जिसमें कि उसका और कालिदास का नाम लिखा है। यदि वह कालिदास का समकालीन नहीं था तो यह बात निश्चय है कि वह छठीं शताब्दी में हुआ।

अमरसिंह जो कि प्रसिद्ध संस्कृत कोश का बनाने वाला है नवरत्नों में से एक था और वह बौद्ध था। उसके ग्रन्थ का छठीं शताब्दी में चीन की भाषा में अनुवाद किया गया था और कहा जाता है कि बुद्ध गया का बौद्ध मन्दिर उसी का बनवाया हुआ है।

ज्योतिषशास्त्र में पौराणिक काल का सब से प्रथम लेखक आर्य्यभट्ट है। वह अपना जन्म सन् ४७६ ईस्वी में लिखता है। वह विक्रमादित्य की सभा में नहीं था, उसका जन्म पाटलीपुत्र में हुआ था और उसने विक्रमादित्य के पहिले ही छठीं शताब्दी के प्रारम्भ ही में प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

वराहमिहिर जो कि आर्य्यभट्ट के उपरान्त हुआ, नव रत्नों में था। वह अवन्ति का रहने वाला था और उसकी मृत्यु ५८७ में हुई।

उसका उत्तराधिकारी ब्रह्मगुप्त छठीं शताब्दी के अन्त में ५९८ ई० में हुआ और उसने अपना ग्रन्थ ३० वर्ष की अवस्था में अर्थात् सन् ६२८ में लिखा। ब्रह्मगुप्त का पिता जिष्णु था

और यह कदाचित वही जिष्णु हो जो कि कालिदास का समकालीन कहा गया है।

विक्रमादित्य के शेष रत्नों में से धन्वन्तरि प्रसिद्ध वैद्य था और दण्डिन् ने अपने दशकुमारचरित्र में उसका उल्लेख किया है। बेतालभट्ट नीतिप्रदीप का ग्रन्थकार था और वररुचि प्रसिद्ध वैयाकरण था। घटकर्पर, शंकु और क्षपणक इतने प्रसिद्ध नहीं हैं और उनके पीछे के समय के लोगों ने उनका वह सत्कार नहीं किया जैसा कि उनका विक्रम की सभा में होता था।

अब हम उस विद्या की उन्नति का कुछ विचार कर सकते हैं जो कि विक्रमादित्य के समय में हुई थी और उसने उसके नाम को कभी न मरने वाला यश दिया है। तेरह शताब्दियों के उपरान्त भी आज हम हिन्दू हृदय के विकास और धीशक्ति के उदय का कुछ विचार कर सकते हैं जो कि हिन्दू धर्म्म के पुनर्जीवित होने का चिन्ह है। हम यह विचार कर सकते हैं कि कई शताब्दियों की अवनति के उपरान्त, दुखदाई युद्धों और आक्रमणों के उपरान्त भी लोगों के हृदय में किस प्रकार वीरता, महानता और यश का अचानक उदय हुआ। जाति को उस समय एक पद दर्शक की आवश्यकता थी और विक्रमादित्य जो कि विदेशियों का विजय करने वाला, समस्त उत्तरी भारतवर्ष का राजा, गुणियों और विद्वानों का संरक्षक था चाहे वह बौद्ध हो और चाहे हिन्दू पथ प्रदर्शक की भांति खड़ा हुआ। उस समय एक महान् पुरुष की आवश्यकता थी और वह महान् पुरुष उपस्थित हुआ और जाति ने इस बड़े राजा के आश्रय में साहित्य और विज्ञान में ऐसी सफलता प्राप्त की जो कि इसके पहिले बहुत ही कम प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार यदि हम इतिहास को सावधानी और ठीक रीति से जानने का यत्न करें, यदि हम कहानियों और अत्युक्तियों को एक ओर हटा दें तो हम भारतवर्ष के इतिहास के प्रत्येक काल को साधारणतः समझ सकते हैं और प्रत्येक बात का सच्चा सच्चा कारण जान सकते हैं। हम स्वयं विक्रमादित्य के महत्त्व का कारण उसके चारो ओर होनेवाली घटनाओं से जान सकते हैं और हम कालिदास की अद्वितीय कल्पनाओं का कारण उसके समय में हिन्दुओं के विचार में साधारणतः आनन्द का होना समझ सकते हैं। हम लोग वराहमिहर और अमरसिंह के परिश्रमों को भी समझ सकते हैं कि वे विद्वानों की एक बड़ी सभा में एक दूसरे से बढ़कर सम्मान प्राप्त करना चाहते थे और हम उस समय में हिन्दुओं और बौद्धों के बीच उत्तम मुकाबिले को भी समझ सकते हैं जब कि धर्म में मत भेद बढ़ कर इतनी बुरी अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ था कि वह असह्य होजाय और क्लेश का कारण हो। बौद्धधर्म की अवनति हो रही थी और हिन्दु धर्म फिर से जीवित हो रहा था और स्वभावतः इस पुनर्जीवित होने वाले धर्म ने बल विद्या और गुण के सबसे अधिक चिन्ह दिखलाए।

विक्रमादित्य के उपरान्त लगभग ५५० ईस्वी में शीलादित्य प्रतापशील उत्तरी भारतवर्ष का राजा हुआ। हुेनत्सांग के वर्णन से विदित होता है कि वह धर्म्म का पक्षपाती था और उसकी सभा में मनोरथ के शिष्य वसुबन्धु का बड़ा सत्कार किया जाता था और उसने हिन्दुओं से वादविवाद में एक बड़ी विजय प्राप्त की। वसुबन्धु एक ब्राह्मण का पुत्र था और वह प्रसिद्ध असङ्ग का भाई था। वह काश्मीर में अध्ययन करके मगध को लौटा, नालन्द के विद्यालय में

पण्डित हुआ और नेपाल में मरा। हमें शीलादित्य की सभा के और काई दूसरे महान् पुरुष का वृत्तान्त विदित नहीं है।

शीलादित्य का उत्तराधिकारी लगभग ५८० ईस्वी में प्रभाकरवर्द्धन हुआ। प्रभाकर की बहिन राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्म्मन् के साथ हुआ था, परन्तु मालव लोगों से उसका एक युद्ध छिड़ा जिसमें प्रभाकर की हार हुई और ग्रहवर्म्मन मारा गया।

लगभग ६०५ ई० में प्रभाकर का उत्तराधिकारी राज्यवर्धन हुआ। राज्यवर्द्धन भी मालव लोगों के साथ युद्ध करता रहा और उसने उनके राजा को मार डाला। ह्वेनत्सांग के वृत्तान्त से हमें विदित होता है कि इसके उपरान्त कर्णसुवर्ण अर्थात् पश्चिमी बङ्गाल के राजा शशाङ्क नरेन्द्र गुप्त ने राज्यवर्धन को पराजित किया और मार डाला।

उसका उत्तराधिकारी लगभग ६१० ईस्वी में उसका छोटा भाई द्वितीय शीलादित्य हुआ जिसे हर्षवर्धन और कुमारराज भी कहते हैं। वह एक बड़ा और प्रबल राजा था और उसने अपने विजयों के तथा विद्या का सत्कार करने के कारण विक्रमादित्य के राज्य के स्मरण को पुनर्जीवित किया। छः वर्षों में उसने "पांचों खण्डों" को जीत लिया परन्तु वह महाराष्ट्रों के महाराजा पोलकेशिनि द्वितीय को पराजित नहीं कर सका। मालव लोगों को उसने हराया और राज्यश्री को पुनः प्राप्त किया और उसने कामरूप के राजा भास्कर वर्म्मन् के साथ जिसे कुमारराज भी कहते हैं, एक सन्धि कर ली।

हर्षवर्द्धन वा शीलादित्य द्वितीय की एक तांबे की मोहर पाई गई है जिसमें उसकी वंशावली दी है। उसमें खुदा हुआ लेख बहुत छोटा है और उससे विदित होता है कि आदित्य

वर्द्धन, राज्यवर्द्धन और महादेवी का पुत्र था; आदित्यवर्द्धन और महासेनगुप्ता का पुत्र प्रभाकरवर्द्धन हुआ और प्रभाकरवर्द्धन का छोटा भाई यशोमति से हुआ।

ह्वेनत्सांग के वृत्तान्त से हमें विदित होता है कि शीलादित्य की राजधानी कान्यकुब्ज वा कन्नौज में थी और वह पांचवें वर्ष धर्म्म सम्बन्धी त्योहार को करने के लिये राजाओं और सर्वसाधारण का एक बड़ा समूह एकत्रित करता था। हमें यह भी विदित होता है कि शीलादित्य एक दृढ़ बौद्ध था, यद्यपि वह ब्राह्मणों का भी आदर सत्कार करता था।

शीलादित्य हर्षवर्द्धन विद्या का एक प्रसिद्ध रक्षक था, और कहा जाता है कि रत्नावली और बौद्धनाटक नागानन्द उसी का बनाया हुआ है। परन्तु सम्भवतः इनमें से किसी का भी वह ग्रन्थकार नहीं है, यद्यपि ये दोनों ही ग्रन्थ उसकी सभा में बनाए गए थे। रत्नावली का ग्रन्थकर्ता सम्भवतः बाणभट्ट है जिसने कि कादम्बरी और हर्षचरित्र बनाया है। दशकुमारचरित्र का ग्रन्थकार दण्डिन बाणभट्ट के पहिले और कालिदास के उपरान्त हुआ है और उसने कालिदास का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि दण्डिन उस समय जीवित रहा हो जब कि बाणभट्ट ने उसीका अनुकरण करते हुए कादम्बरी नाम का बहुत बढ़ाचढ़ा उपन्यास लिखा।

संस्कृत का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास सुबन्धु का बनाया हुआ वासवदत्ता है। सुबन्धु बाणभट्ट का समकालीन था, यद्यपि उसने अपना ग्रंथ बाणभट्ट से कदाचित्त कुछ पहिले लिखा है, क्योंकि बाणभट्ट ने बहुधा उसके वाक्य उद्धृत

किए हैं। इस प्रकार हमें संस्कृत के तीनों सर्वोत्तम गद्य के उपन्यासों का समय विदित होगया।

वाणभट्ट के नाम के साथ मयूर के नाम का भी अनेक स्थान पर उल्लेख है और एक दन्तकथा ऐसी है कि बाण ने मयूर की एक चण्डी अर्थात् लड़ाकी कन्या के साथ विवाह किया था। यह मयूर "मयूर शकत" नाम की पुस्तक का ग्रन्थकार है।

इससे अधिक प्रसिद्ध नाम भर्तृहरि का है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने अपनी एक मनोरञ्जक टिप्पणी में चीन के यात्री इट्सिंग का प्रमाण देकर दिखलाया है कि भर्तृहरि की मृत्यु लगभग ६५० ईस्वी में हुई अर्थात् यों समझिए कि शृङ्गार नीति और वैराग्य शतकों का ग्रन्थकार शीलादित्य द्वितीय का समकालीन था।

भट्टि काव्य जो कि व्याकरण सीखने का एक सहज और मनोरञ्जक ग्रन्थ है, हिन्दू विद्यार्थियों को भर्तृहरि के शतकों की अपेक्षा अधिक ज्ञात है। भट्टि काव्य के भाष्यकार कन्दर्प, विद्याविनोद, श्रीधर स्वामिन् आदि इस ग्रंथ को भर्तृहरि का बनाया हुआ कहते हैं। अन्य भाष्यकारों ने भर्तृ के नाम को बहुधा भट्टि कहा है और सब बातों पर विचार करने से यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि शतकों का और भट्टि काव्य का ग्रन्थकार एकही मनुष्य भर्तृ वा भट्टि है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने अपने इस अनुमान को दृढ़ करने के लिये चीन के उपरोक्त यात्री का प्रमाण दिया है।

कन्नौज के बड़े सम्राट् शीलादित्य के समय में विद्या की ऐसी उन्नति थी वह पांचवें वर्ष अपने त्योहारों में

उत्तरी भारतवर्ष के सब राजा प्रजा को एकत्रित करता था, और समस्त उत्तरी भारतवर्ष का अधिपति था। हम पहिले देख चुके हैं कि ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त भी इसी सम्राट् के समय में हुआ है।

शीलादित्य की मृत्यु लगभग ६४० या ६५८ ईस्वी में हुई। इसके ५० वर्षों के उपरान्त इस बड़े सम्राट् की गद्दी पर केवल एक छोटा सा राजा रह गया था। कन्नौज की शक्ति और प्रताप अब नहीं रहा था और काश्मीर के राजा ललितादित्य ने कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन् को युद्ध में पराजित कर दिया था। परन्तु उज्जयिनी में दो शताब्दियों के पहिले साहित्य का जो प्रदीप जलाया गया था वह अब तक भी यशोवर्म्मन् की सभा में चमक रहा था अर्थात् भारतवर्ष का सबसे बड़ा एक कवि भवभूति इसी राजा की सभा में था। उसे प्रायः उन महान् कवियों में से अन्तिम समझना चाहिए जो कि भारतवर्ष में छठीं और आठवीं शताब्दी में हुए हैं। राजतरङ्गिणी से कि जिससे हमें यह वृत्तान्त विदित होता है, यह भी विदित होता है कि दो अन्य ग्रन्थकार अर्थात् वाक्पति और राज्यश्री इसी यशोवर्म्मन् की सभा में थे।

यदि ये तीनों शताब्दियां अर्थात् ५०० ईस्वी से लेकर ८०० ईस्वी तक उत्तर काल के संस्कृत साहित्य के इतिहास में सबसे उत्तम समझी जाती हैं तो वे हिन्दुओं और बौद्धों में अप्रतिरोध और मित्रवत् हिल्का होने के लिये भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस समय में इन दोनों धर्मों के अनुयायियों में विवाद हो रहे थे और प्रसिद्ध शंकराचार्य्य जो कि

८ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करने का बड़ा भारी पक्षपाती और बौद्ध धर्म्म का सबसे बड़ा विरोधी हुआ ।

इसके उपरान्त अन्धकार का समय हुआ और ८०० से लेकर १००० ईस्वी तक हिन्दू साहित्य विज्ञान वा शिल्प के इतिहास में एक भी प्रसिद्ध नाम नहीं मिलता ।

अध्याय २

ह्वेनत्सांग का भारतवर्ष का वृत्तान्त ।

अब हम चीन के प्रसिद्ध यात्री ह्वेनत्सांग के लेखों का वर्णन करेंगे जिनसे कि सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष की अवस्था का बहुत कुछ इतिहास प्रगट हुआ है। उसने सन् ६२६ ईस्वी में चीन से प्रस्थान किया और वह फर्गनः समरकन्द, बुखारा और बल्ख में होता हुआ भारतवर्ष में आया और यहां बहुत वर्षों तक भ्रमण करता हुआ अन्त में सन् ६४५ ईस्वी में चीन को लौट गया। भारतवर्ष के इतिहास के आरम्भ में वह हिन्दुओं की चाल व्यवहार और उनके शिल्प का वर्णन करता है जिस पर कि हम आगे चलकर विचार करेंगे यहां पर इस यात्री ने जिन हिन्दू राज्यों का वर्णन किया है उनके विषय में हम लिखेंगे ।

जिले जलालाबाद की प्राचीन राजधानी नगरहार घेरे में चार मील थी। इस नगर में अन्न तथा फल बहुतायत

से होते थे। यहां के लोगों की चाल व्यवहार सादी और सच्ची थी और उनके स्वभाव उत्साहपूर्ण और वीरोचित थे। यहां बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार था परन्तु यहां हिन्दू धर्मावलम्बी लोग भी थे और नगर में पांच शिवालय तथा लगभग १०० पूजा करने वाले लोग थे। नगर के पूर्व ओर अशोक का बनाया हुआ ३०० फीट ऊंचा एक स्तूप था जो कि सुन्दर काम किए हुए पत्थरों से अद्भुत रीति से बना था। यहां बहुत संघाराम थे और उनमें से एक नगर चार मील दक्षिण पश्चिम था जिसमें ऊंची दीवार और ढेर किए हुए पत्थरों का कई खण्ड का बुर्ज और २०० फीट ऊंचा एक स्तूप था।

गान्धार राज्य की राजधानी पेशावर में थी और नगरहार तथा गान्धार दोनों ही उस समय (हिन्दूकुश के निकट) के राजा के अधीन थे और उसी के नायब लोग इन देशों में राज्य करते थे। गान्धार के नगर और गांव उजाड़ होगए थे और उनमें बहुत ही थोड़े निवासी रह गये थे। नगर में अन्न बहुतायत से पैदा होता था और प्रजा कायर पर साहित्य से प्रीति रखने वाली थी। उनमें एक हजार संघाराम उजाड़ और टूटे फूटे पड़े थे और हिन्दुओं के १०० मन्दिर भी थे।

गान्धार राज्य का वर्णन करते हुये हेनत्सांग हमें मनोहृत नामी एक बौद्ध लेखक की कुछ कथा भी सुनाता है। वह सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य के नगर में रहता था परन्तु विक्रमादित्य हिन्दूधर्म और हिन्दू विद्या का संरक्षक था और उसकी सभा में किसी धर्म सम्बन्धी विवाद में मनोहृत का अपमान हुआ और उसने यह कह कर घृणा से सभा को छोड़ दिया कि "पक्षपातियों के समूह में न्याय नहीं रहता" परन्तु

विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी शीलादित्य विद्वानों का संरक्षक था और उसने मनोहृत के शिष्य वसुबन्धु का सत्कार किया और उसके यहां के हिन्दू पण्डितों ने लज्जित होकर सभा छोड़ दी। दूसरे स्थान पर मालवा का वृत्तान्त लिखते हुये ह्वेनत्सांग कहता है कि शीलादित्य मेरे समय से ६० वर्ष पहिले अर्थात् सन् ५८० ईसवी के लगभग हुआ था और इस कारण विक्रमादित्य के राज्य का समय ५५० ई० के पहिले निश्चित होता है और यह समय हमारे निश्चित किये हुए समय से मिलता है।

पोलुश नगर के निकट हमारा यात्री एक ऊंचे पर्वत पर पहुँचा और वहां उसने नील पत्थर को काट कर बनाई हुई भीम या देवी (दुर्गा) की एक मूर्ति देखी। यहां निकट और दूर देशों के सब गरीब और धनाढ्य लोग एकत्रित होते थे और व्रत तथा स्तुति के पश्चात् मूर्ति का दर्शन करते थे। पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मन्दिर था और यहां वे हिन्दू सम्प्रदाय के लोग जो कि अपनी देह में राख लगाये रहते थे (पाशुपत) पूजा के लिये आते थे। इन स्थानों से ह्वेनत्सांग वैयाकरण पाणिनि के जन्म स्थान सलातुर में आया।

उद्यान अर्थात् काबुल के चारों ओर के देश में जहां कि दो शताब्दी पहिले फाहियान ने बौद्ध धर्म्म का प्रचार देखा था ह्वेनत्सांग ने संघारामों को उजाड़ और निर्जन पाया और उनमें बहुत ही थोड़े सन्यासी रह गये थे। यहां देवों के १० मन्दिर थे।

सिन्ध नदी को पार करके यह यात्री पर्वतों को लाँघता हुआ छोटे तिब्बत में पहुंचा। "यहां की सड़कें ऊंची नीची और ढालुआ हैं पर्वत और दरें अन्धकारमय हैं। कहीं कहीं

पर हमें रस्सों के द्वारा और कहीं पर फैले हुये लोहे के सिक्कड़ों के द्वारा नालों को पार करना पड़ता है। सीकड़ों के आर पार हवा में लटके हुये पुल हैं। लौटते समय से ह्वेनत्सांग तक्षशिला और सिंहपुर को जो कि काश्मीर राज्य के आधीन थे, गया। सिंहपुर में उसे श्वेताम्बरी और दिगम्बरी जैनी लोग मिले। "उनके संस्थापक के नियम अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों के सिद्धान्तों से लिये गये हैं............अपने पूज्य देव (महावीर) की मूर्ति को वे चोरी से तथागत बुद्ध की श्रेणी में रखते हैं, उसमें केवल कपड़े का भेद रहता है। सुन्दरता में वह बिलकुल एक सी है"। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ह्वेनत्सांग का यह विचार था कि जैनियों की सम्प्रदाय कुछ बौद्धों के जुदा होने से बन गई है।

काश्मीर का घेरा १४०० मील कहा गया है और उसकी राजधानी २॥ मील लम्बी और एक मील चौड़ी थी। यहां अन्न उपजता था और फल फूल बहुतायत से होते थे। यहां की जलवायु ठंढी और कठोर थी। यहां बर्फ बहुत गिरती थी परन्तु हवा की कमी थी। लोग भीतर चमड़े के कपड़े और उसके ऊपर सफेद पटुये पहिनते थे। वे लोग हलके और तुच्छ, निर्बल और कायर स्वभाव के होते थे चेहरा सुन्दर होता था परन्तु वे बड़े धूर्त होते थे। वे लोग विद्या के प्रेमी और सुशिक्षित थे। उनमें हिन्दू और बौद्ध दोनों ही थे। वहां १०० संघाराम और ५०० सन्यासी थे। काश्मीर में अब तक कनिष्क का यश व्याप्त था और हमारे यात्री ने इस बड़े राजा के विषय में भी लिखा है। यहां तथा अन्यत्र ह्वेनत्सांग ने बुद्ध के निर्वाण का समय अशोक के १०० वर्ष पहिले लिखा है। अतएव उसके इस कथन से कि "तथागत के निर्वाण के

४०० वर्ष पीछे गान्धार का राजा कनिष्कराज गद्दी पर बैठा, उसके राज्य का यश दूर दूर तक फैला और उसने दूर के देशों को अपने अधीन किया" हमें यह समझना चाहिये कि उसके अनुसार कनिष्क अशोक के ३०० वर्ष उपरान्त अर्थात् लगभग ७८ ई० में हुआ और यह तिथि हमारी दी हुई तिथि तथा शाक संवत के समय से मिलती है।

कनिष्क के सम्बन्ध में हमारा यात्री उसके राज्य काल की उत्तरी बौद्धों की सभा का वृत्तान्त लिखता है। वह कहता है कि वहां जो ५०० अरहत लोग एकत्रित हुये थे उन्होंने तीन टीकाएं बनाईं अर्थात् उपदेश शास्त्र, जिसमें सूत्र पितक की टीका की है, विनय विभाषा शास्त्र जिसमें विनय पतिक की टीका की है, और अभिधर्म्म विभाषा शास्त्र जिसमें अभिधर्म्म पितक की व्याख्या है।

कनिष्क के ही सम्बन्ध में हमारा यात्री कहता है कि चीन के अधीनस्थ राजा लोग इस प्रतापी सम्राट् के पास अपने विश्वासी आदमी भेजते थे और वह उनसे बड़े आदर के साथ बर्ताव करता था और उसने उनके रहने के लिये रावी और सतलज के बीच का देश नियत किया था इसी कारण वह चीनपति के नाम से प्रसिद्ध होगया। हुेनत्सांग इस देश में आया जिसका घेरा ४०० मील और जिसकी राजधानी का घेरा ३ मील था। चीन के लोगों ने भारतवर्ष के लोगों में नाशपाती और शफतालू का प्रचार किया और इसी कारण शफतालु का नाम चीनानि और नाशपाती का नाम चीनराजपुत्र रक्खा गया है। जब लोगों ने हुेनत्सांग को देखा तो वे लोग उसकी ओर अंगुली दिखा कर कहकर कहने लगे "यह मनुष्य हम लोगों के पहले राजाओं के देश का निवासी है"।

हुवेनत्सांग ने बौद्धों को बड़ा दुःख देने वाले मिहिरकुल का भी वर्णन किया है। कुछ शताब्दी हुई कि मिहिरकुल ने रावी के पश्चिम साकल के नगर में अपना अधिकार जमाया। हुवेनत्सांग कहता है कि इस भयानक मिहिरकुल ने पांचों खंडों में सब पुजेरियों का नाश करने की आज्ञा दी जिसमें कि बुद्ध के धर्म्म का अंत हो जाय और उसकी कोई बात शेष न रह जाय। इस प्रबल राजा ने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण किया परंतु वहां वह पकड़ा गया और अपमान के साथ छोड़ दिया गया और वह काश्मीर लौटा और वहां राजद्रोह खड़ा करके उसने राजा को मार डाला और स्वयं राजगद्दी पर बैठगया। उसने गान्धार को विजय किया, वहां के राज्य वंश को जड़ से उखाड़ डाला बौद्ध धर्म्म और स्तूपों तथा संघारामों का नाश किया और सिंध नदी के तटों पर तीन लाख मनुष्यों का बध किया। इसमें बौद्ध लेखक की कुछ अत्युक्ति भी समझ लेनी चाहिए परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि काश्मीर का मिहिरकुल बौद्धों का एक बड़ा विरोधक और नाश करने वाला था।

हुवेनत्सांग शतद्रु (सतलज) के राज्य से बड़ा प्रसन्न हुआ जो कि ४०० मील के घेरे का था और जिसकी राजधानी का घेरा साढ़े तीन मील था। इस देश में अन्न, फल, सोने चांदी और रत्न बहुतायत से थे। यहां के लोग चमकीले रेशम के बहु मूल्य और सुन्दर वस्त्र पहिनते थे। उनके आचरण नम्र और प्रसन्न करने वाले थे वे पुण्यात्मा थे और बुद्ध के धर्म्म पर विश्वास करते थे। परन्तु संघाराम शून्य थे और उनमें बहुत ही कम पुजेरी रहते थे।

मथुरा के देश का घेरा १००० मील था और उसके मुख्य नगर का घेरा ४ मील। यहां की भूमि बड़ी उपजाऊ थी और इस देश में रूई और स्वर्ण होता था। लोगों के आचरण नम्र और सुशील थे और वे लोग पुण्य और विद्या का सत्कार करते थे। यहां २० संघाराम और लगभग २००० पुजेरी थे। व्रत के तीनों महीनों (पहिले, पांचवे, और नवें महीनों) के छः छः व्रत करने वाले दिनों में स्तूपों की पूजा करते थे। "वे लोग अपनी रत्नजटित पताका को खड़ा करते हैं, बहुमूल्य छातों के झुण्ड जाल की नाईं देख पड़ते हैं, धूप का धुआं बादल की भांति उठता है, चारों ओर फूल वृष्टि की नाईं फेंके जाते हैं, सूर्य्य और चन्द्रमा उस भांति छिप जाते हैं मनो घाटियों के ऊपर वे बादल से ढक लिए गए हैं। देश का राजा और बड़े बड़े मंत्री इन धर्म्म कार्यों में उत्साह के साथ लगते हैं।"

थानेश्वर के राज्य का घेरा १४०० मील था और उसकी राजधानी का घेरा ४ मील। यहां की जल वायु अच्छी और भूमि बड़ी उपजाऊ थी परन्तु यहां लोग रूखे कपटी और विलास में आसक्त थे। इस की राजधानी प्राचीन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल के निकट थी और हमारे यात्री ने इस युद्ध की कथा अपने ढंग से कही है। पांचों खंडों को दो राजाओं ने अपने में बांट लिया और यह प्रकाशित किया कि जो कोई इस होने वाले युद्ध में मारा जायगा वह मुक्ति पावेगा। इन दोनों देशों में युद्ध आरम्भ हुआ और उसमें लकड़ियों की नाईं मृतकों के ढेर लग गए और उस समय से आज तक यह भूमि सर्वत्र उनकी हड्डियों से ढकी हुई है।

श्रुघ्न (उत्तरी द्वाब) का राज्य जिसके पूरब में गंगा

और उत्तर में हिमालय था, १२०० मील के घेरे का था। हमारे पाठकों को यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि ह्वेनत्सांग के २००० वर्ष पहिले यहां प्राचीन कुरु लोगों की भूमि थी। हमारा यात्री गंगा की लहरों से आश्चर्यित हुआ जो विस्तृत समुद्र की नाई बह रही थी और "असंख्य पापों को धोने वाली" समझी जाती थी। मतिपुर (पश्चिमी रुहेलखण्ड) का, जिसका घेरा १२०० मील था, वर्णन करने के उपरान्त ह्वेनत्सांग ने गंगा के उद्गम स्थान अर्थात् मायापुरी अथवा हारद्वार का वर्णन किया है। यह नगर ४ मील के घेरे में था। "नगर से थोड़ी ही दूर गंगा नदी के तट पर बड़ा देव मंदिर है जहां कि अनेक प्रकार के चमत्कार किए जाते हैं। उसके बीच में एक तालाब है जिसके तट कारीगरी के साथ पत्थर के बने हैं, उसमें से गंगा नदी एक नहर के द्वारा बहाई गई है। पञ्जाब के लोग उसे गंगाद्वार कहते हैं। यहीं पुण्य प्राप्त होता है और पाप का नाश हो जाता है। यहां सदा हजारों मनुष्य दूर दूर से इसके जल में स्नान करने के लिये एकत्रित होते हैं। अतएव सातवीं शताब्दी में ही हरिद्वार हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ और धर्म्मात्मा हिन्दुओं के एकत्रित होने का स्थान हो गया था।

हमारा यात्री सीधे हिमालय के नीचे के देशों में गया और वह वहां के एक ब्रह्मपुर राज्य का वर्णन करता है (जो कि आज कल का गढ़वाल और कमाऊं जाना गया है) "जहां स्वर्ण होता था और जहां बहुत काल तक स्त्री ही शासक रही है और इसलिये यह स्त्रियों का राज्य कहलाता है। राज्य करने वाली स्त्री का पति राजा कहलाता है परन्तु वह राज काज की कोई बात नहीं जानता। मनुष्य

केवल युद्ध का प्रबन्ध करते हैं और भूमि जोतते बोते हैं। बस केवल इतना ही कार्य्य उनका है। यह वर्णन निस्सन्देह हिमालय के नीचे के देशों की पहाड़ी जातियों का है। इन लोगों में आज तक भी स्त्रियों को अनेक पति के साथ विवाह कर लेने की रीति प्रचलित है।

अन्य कई देशों में होते हुए ह्वेनत्सांग कान्यकुब्ज के राज्य में आया जिसे कि ह्वेनत्सांग के समय में दो हजार वर्ष की प्राचीन सभ्यता का सत्कार प्राप्त था। क्योंकि जिस समय मगध असभ्य आदिमवासियों का राज्य था उस समय पांचाल लोगों ने अपनी आदि सभ्यता की उन्नति की थी। और यद्यपि मगध ने अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त तथा प्रतापी अशोक के समयों में इस देश के यश को दबालिया था तथापि जान पड़ता है कि सन् ई० के कुछ शताब्दियों के उपरान्त कान्यकुब्जने पुनः अपना महत्व प्राप्त किया था और वह गुप्त सम्राटों का प्रधान देश होगया था। और ह्वेनत्सांग के समय में उत्तरी भारतवर्ष के अधिपति शीलादित्य द्वितीय की सभा इसी कान्यकुब्ज के प्राचीन नगर में हुई थी।

ह्वेनत्सांग ने कान्यकुब्ज राज्य का घेरा ८०० मील पाया और उसकी सम्पन्न राजधानी ४ मील लम्बी और १ मील चौड़ी थी। नगर के चारों ओर एक खाई थी, आमने सामने दृढ़ और ऊँचे बुर्ज थे। चारों ओर कुंज और फूल झील और तालाब दर्पण की नाईं चमकते हुए देख पड़ते थे। यहां वाणिज्य की बहुमूल्य वस्तुओं के ढेर एकत्रित किए जाते थे। लोग सुखी और संतुष्ट थे घर धनसंपन्न और सुदृढ़ थे। फूल और फल सर्वत्र बहुतायत से होते थे और भूमि जोती

बोई जाती थी, और उसकी फस्ल समय पर काटी जाती थी। यहां की जल वायु अच्छी और हलकी थी और लोग सच्चे और निष्कपट थे। वे देखने में सज्जन और कुलीन जान पड़ते थे। पहिनने के लिये वे कामदार और चमकीले वस्त्र काम में लाते थे, वे विद्याध्ययन में अधिक लगे रहते थे और यात्राओं में धर्म्म सम्बन्धी विषयों पर बहुत अधिक वादविवाद करते थे। उनकी शुद्ध भाषा की प्रसिद्धि बहुत दूर दूर तक फैल गई थी। यहां बौद्धों और हिन्दुओं की संख्या समान थी। यहां कोई १०० संघाराम और १०००० पुजेरी थे। देव मन्दिर २०० थे और उनके पूजने वाले कई हजार लोग थे।

एक बार के लिये हेनत्सांग अपने साधारण नियम को छोड़ कर उस देश के इतिहास का भी कुछ वृत्तान्त लिखता है। वह कहता है कि कान्यकुब्ज का राजा पहिले प्रभाकर वर्द्धन था, और उसकी मृत्यु पर उसका सबसे बड़ा पुत्र राज्य वर्द्धन राजा हुआ परन्तु कर्ण सुवर्ण (बंगाल) के राजा शशांक (नरेन्द्रगुप्त) ने उसे हराया और मारडाला और उसके मंत्रियों ने उसके छोटे भाई हर्षवर्द्धन को शीलादित्य के नाम से गद्दी पर बैठाया। हेनत्सांग इस शीलादित्य से मिला और उसने उसका कृपा के साथ सत्कार किया। यह शीलादित्य द्वितीय था क्योंकि हम पहिले दिखला चुके हैं और फिर आगे चलकर मालव के वृत्तान्त में दिखलावेंगे कि शीलादित्य प्रथम हेनत्सांग के ६० वर्ष पूर्व हुआ। शीलादित्य द्वितीय ने ६१० से ६५० तक राज्य किया।

शीलादित्य द्वितीय अपने बल को प्रकाशित करने में ढीला नहीं था। उसने ५००० हाथियों २००० हजार घोड़ सवारों और ५०००० पैदल सिपाहियों की सेना एकत्रित की और छः वर्षों में उसने पञ्जाब को अपने आधीन कर लिया।

यह बौद्ध धर्म्म को मानने वाला था और उसने जीवों के वध का निषेध किया, स्तूप बनवाए, भारतवर्ष की समस्त सड़कों पर चिकित्सालय बनवाए, वैद्यों को नियत किया और भोजन जल तथा औषधियों का प्रबन्ध किया। पाचवें वर्ष वह बौद्धों के धार्म्मिक त्योहार में बड़ा भारी समूह एकत्रित करता था और बहुत दान देता था।

जिस समय ह्वेनत्सांग कामरूप के राजा के साथ नालंद के संघाराम में ठहरा हुआ था तो शीलादित्य ने राजा को यह कहला भेजा "मैं चाहता हूँ कि तुम उस विदेशी श्रामण के साथ जो कि नालंद के संघाराम में तुम्हारा अतिथि है इस समूह में तुरन्त आओ"। इस प्रकार हमारा यात्री कामरूप के राजा के साथ गया और शीलादित्य से उसका परिचय हुआ। शीलादित्य ने हमारे यात्री से उसके देश के विषय में अनेक प्रश्न पूछे और उसके वृत्तान्त से वह बहुत प्रसन्न हुआ। शीलादित्य कान्यकुब्ज लौटने वाला था इस कारण उसने धार्म्मिक समूह को एकत्रित किया और लाखों मनुष्यों के साथ गंगा के दक्षिणी किनारे से यात्रा की और साथ ही साथ कामरूप के राजा ने उत्तरी किनारे से। ९० दिन में वे लोग कान्यकुब्ज पहुँचे।

तब बीस देशों के राजा लोग जिन्हें शीलादित्य ने आज्ञा दी थी, अपने देश के प्रसिद्ध श्रामणों और ब्राह्मणों तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्रबन्धकर्ताओं और सैनिकों के सहित एकत्रित हुए। यह वास्तव में राजकीय धार्म्मिक समूह था और शीलादित्य ने गंगा के पश्चिम ओर एक संघाराम और उसके पूरब ओर १०० फीट ऊँचा एक बुर्ज बनवाया और उनके बीच उसने बुद्ध की मनुष्य के कद की स्वर्ण की मूर्ति स्थापित की।

और उस मास की अर्थात् वसन्त ऋतु के ३ मास की पहिली तिथि से २१ वीं तिथि तक वह श्रमणों और ब्राह्मणों को समान रीति से भोजन कराता रहा । संघाराम से लेकर राजा के वहां बने हुए महल तक सब स्थान तम्बुओं और गानेवालों के खेमों से सज्जित था । बुद्ध की एक छोटी मूर्ति एक बहुत ही सजे हुए हाथी के ऊपर रक्खी जाती थी और शीलादित्य इन्द्र की भांति सजा हुआ उस मूर्ति की बाईं ओर और कामरूप का राजा उसकी दहिने ओर पांच पांच सौ युद्ध के हाथियों की रक्षा में चलता था । शीलादित्य चारों ओर मोती और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सोने और चांदी के फूल फेंकता जाता था । मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शीलादित्य उसे स्वयं कन्धे पर रख कर पश्चिम के बुर्ज पर ले जाता था, और उसे रेशमी वस्त्र तथा रत्नजटित भूषण पहिनाता था । इसके उपरान्त भोजन होता था और तब विद्वान लोग एकत्रित हो कर शास्त्रार्थ करते थे, और संध्या के समय राजा अपने भवन में चला जाता था ।

इस प्रकार नित्य मूर्ति निकाली जाती थी और अन्त में जुदाई के दिन बुर्ज में एक बड़ी आग लगी । यदि हुेनत्सांग का विश्वास किया जा सकता है तो ब्राह्मणों ने राजा को बौद्ध धर्म्म में रत देख कर केवल बुर्ज में आग ही नहीं लगा दी थी वरन् उसे मार डालने का भी यत्न किया था । परन्तु हुेनत्सांग एक कट्टर बौद्ध था, और इस कारण ब्राह्मणों के विरुद्ध उसके इस अपवाद को बहुत सावधानी के साथ मानना चाहिए ।

ऊपर के वृत्तान्त से विदित होता है कि भारतवर्ष के सम्राट् के आधीन उन अनेक राज्यों के राजा और सर्दार

लोग थे जिनमें कि भारतवर्ष सदा विभाजित रहता था। इससे यह विदित होता है कि बौद्ध धर्म्म बिगड़ कर अब मूर्ति पूजा में आ लगा था और हमें इस बात का भी ज्ञान होता है कि बौद्ध लोग अपने धर्म्म सम्बन्धी त्योहारों को उस रीति पर धूम धाम से करते थे, जिस रीति को कि उन्होंने उत्तर काल के हिन्दुओं से सीखा है। इससे हमें यह भी विदित होता है कि राजा लोग चाहे वे बौद्ध धर्म्म के और चाहे हिन्दू धर्म्म के मानने वाले हों परन्तु वे दोनों धर्म्मों के विद्वानों और धार्म्मिक लोगों का सत्कार करते थे और इन धर्म्म के लोगों में वादविवाद प्रायः मित्रभाव से होता था। और अन्त में हमें यह भी प्रकट होता है कि बौद्ध काल के अन्त में ब्राह्मण लोग किस ईर्षा असंतोष के साथ उस बौद्ध धर्म्म के जय और ह र्ष को देखते थे जिसको उन्होंने इसके उपरान्त एक वा दो शताब्दियों में अन्तिम बार यत्न करके परास्त किया।

हमारे यात्री ने अयोध्या के राज्य का घेरा १००० मील पाया और उसे अन्न फूल और फलों से भरा पूरा देखा। वहां की जल वायु अच्छी थी, न बहुत ठंढी थी न बहुत गरम। लोगों के आचरण पुण्यात्मक और मिलनसार थे। दूसरे स्थानों की नाई यहां के लोग भी कुछ हिन्दू और कुछ बौद्ध थे, और इस देश में १०० संघाराम और तीन हजार अरहत थे।

हयमुख राज्य में होकर ह्वेनत्सांग प्रयाग वा इलाहाबाद में आया। इस राज्य का घेरा तीन हजार मील था, और यहां की पैदावार बहुत थी और फल बहुतायत से होते थे। और यहां के लोग सुशील और भले मानुस और विद्या के

अनुरागी थे परन्तु यहां बौद्ध धर्म का सत्कार नहीं किया जाता था और अधिकांश लोग कट्टर हिन्दू थे। ह्वेनत्सांग इलाहाबाद के उस बड़े वृक्ष का वर्णन करता है जो कि आज तक भी यात्रियों को अक्षयवट के नाम से दिखाया जाता है।

"दोनों नदियों के संगम पर प्रति दिन सैकड़ों मनुष्य स्नान करके मरते हैं। इस देश के लोग समझते हैं कि जो मनुष्य स्वर्ग में जन्म लेना चाहे उसे एक दाने चावल पर उपवास रखना चाहिए और तब अपने को जल में डुबा देना चाहिए।" नदी के बीच में एक ऊँचा स्तम्भ था और लोग इस पर चढ़कर डूबते हुए सूर्य्य को देखने जाते थे।

कौशाम्बी जहां कि गौतम ने बहुधा उपदेश किया था अब तक एक भरा पूरा नगर था। इस राज्य का घेरा १२०० मील था, यहां ऊख और चावल बहुतायत से होता था, और यहां के लोग यद्यपि उजड्ड और कठोर कहे जाते थे, तथापि वे सच्चे और धार्मिक थे।

श्रावस्ति जो कि कोशल की प्राचीन राजधानी थी और जहां गौतम ने उपदेश दिया था, अब उजाड़ और खंडहर हो गई थी। यह देश १२०० मील के घेरे में था और यहां के लोग सच्चे और पवित्र तथा धर्म्म तथा विद्या के अनुरागी थे।

कपिलवस्तु भी जो कि गौतम का जन्म स्थान है, खंडहर हो गई थी। यह देश ८०० मील के घेरे में था और इसमें कोई दस उजाड़ नगर थे। राजभवन जो अब खंडहर हो गया था ईंटों का बना हुआ तीन मील के घेरे में था। इस देश का कोई राजा नहीं था। प्रत्येक नगर ने अपने अपने सर्दार नियत कर लिए थे। यहां के लोग सुशील और दयालु थे।

कुशि नगर भी जो कि गौतम का मृत्यु स्थान है इसी भाँति खंडहर था और उसकी पुरानी दीवारों की ईंटे की नेव दो मील के घेरे में थी।

इलाहाबाद और हरिद्वार की नाई बनारस भी ह्वेनत्सांग के समय तक हिन्दू धर्म का एक स्तम्भ था। इस देश का घेरा ८०० मील था और इसकी राजधानी लगभग ४ मील लम्बी और एक मील चौड़ी थी। यहां के गृहस्थ लोग धनाढ्य थे और उनके यहां बड़ी बड़ी अमूल्य वस्तुएं थीं। यहां के लोग कोमल और दयालु थे और वे विद्याध्ययन में लगे रहते थे। इनमें से अधिकांश हिन्दू थे और बहुत थोड़े लोग बौद्ध धर्म का सत्कार करने वाले थे। यहां तीस संघाराम और लगभग ३००० पुजेरी थे परन्तु देवमन्दिर लगभग १०० के थे और उनमें पूजने वाले १०००० मनुष्य थे। बनारस में विशेषतः महेश्वर की पूजा की जाती थी। कुछ लोग अपने बाल कटवा कर नंगे रहते थे और अपने शरीर में भभूत लगाकर पुनर्जन्म से बचने के लिये सब प्रकार की तपस्याओं की साधना करते थे।

बनारस के नगर में बीस देवमन्दिर थे जिनके बुर्ज और दलान नकाशीदार पत्थर और लकड़ियों के बने थे। मन्दिर वृक्षों की छाया में थे और उनके चारों ओर स्वच्छ जल के नाले थे। महेश्वर की एक तांबे की मूर्ति १०० फीट ऊँची थी। "उसका रूप गम्भीर और तेजपूर्ण है और वह सचमुच जीवित सी जान पड़ती है।"

नगर के उत्तर पूरब ओर एक स्तूप था और उसके सामने एक लोहे का खम्भा था जो कि दर्पण की भांति उज्ज्वल और चमकदार था और उसकी धरातल बरफ की भांति चिकनी

और चमकीली थी। वरुणा नदी से ईशान कोण पर मृगदाव का बड़ा संघाराम था। बुद्ध ने मृगदाव में पहिले पहल अपना धर्म प्रकाशित किया था। इस संघाराम के आठ भाग थे और चारदिवार बुर्जें तथा उसके आगे निकले हुए बालाखानों और गुफाओं में बहुत ही उत्तम काम था। इस बड़े घेरे में २०० फीट ऊँचा एक विहार था और छत के ऊपर एक सोनहला आम का फल बना हुआ था। विहार की नेव पत्थर की थी परन्तु बुर्ज और सीढ़ियां ईंटों की थीं। विहार के बीचोबीच बुद्ध की एक आदमकद मूर्ति थी जिसमें कि बुद्ध धर्म के पहिए को फेरता हुआ दिखलाया गया था। यह मूर्ति इस स्थान के लिये बहुत उपयुक्त है जहां कि इस महान् उपदेशक ने अपने धर्म के पहिए को पहिले पहल चलाया था।

अन्य स्थानों में होते हुए हेनत्सांग वैशाली में आया। यह राज्य १,३०० मील के घेरे में था, पर इसकी राजधानी खंडहर हो गई थी। इस देश की भूमि उपजाऊ थी और यहां आम और केले बहुतायत से होते थे। यहां की जल वायु अच्छी और मातदिल थी और यहां के लोग स्वच्छ और सच्चे थे। हिन्दू और बौद्ध लोग साथ ही साथ रहते थे। संघाराम अधिकांश खंडहर थे और उनमें से तीन वा चार जो अब तक थे उनमें बहुत ही थोड़े सन्यासी रहते थे। देवमन्दिर बहुत थे।

हेनत्सांग वज्जीनों के राज्य का जुदा उल्लेख करता है जो कि ८०० मील के घेरे में था। परन्तु वास्तव में लिच्छवि लोग और वज्जीन लोग एक ही थे, अथवा यों कहना चाहिए कि लिच्छवि लोग वज्जीनों की आठ जातियों में से एक थे। कदाचित् यह कहना आवश्यक नहीं है कि हेनत्सांग वैशाली की सभा का भी वर्णन करता है और उसके

अनुसार यह सभा गौतम की मृत्यु के १२० वर्ष के उपरान्त हुई और उसने "जो नियम टूट गए थे उन्हें फिर से ठढ़ किया और पवित्र नियम को स्थापित किया।"

हमारा यात्री तब नेपाल में गया परन्तु वहां के लोगों के विषय में उसकी अच्छी सम्मति नहीं है। वह कहता है कि वे लोग झूठे और विश्वासघातक थे, उनका स्वभाव कठोर और क्रोधी था और वे सत्य अथवा सम्मान पर कोई ध्यान नहीं देते थे। उनका स्वरूप कुढंगा और भयानक था। नेपाल से ह्वेनत्सांग वैशाली को पुनः लौटा और वहां से गंगा नदी को पार करके मगध में पहुँचा जो कि उसके लिये पवित्र मंडली से भरा हुआ था। उसने जो १२ पुस्तकें लिखी हैं उनमें से पूरी दो पुस्तकें उन कथाओं दृश्यों तथा पवित्र चिन्हों के विषय में है जिन्हें कि उसने मगध में पाया था।

मगध का राज्य एक हजार मील के घेरे में था। दीवार से घिरे हुए नगरों की बस्ती बहुत कम थी परन्तु कसबों की बस्ती घनी थी। भूमि उपजाऊ थी और उसमें अन्न बहुतायत से होता था। यह देश नीचा और नम था और इस कारण बस्ती ऊंची भूमि पर थी। बरसात में सारा देश पानी से भर जाता था और तब लोग नाव के द्वारा बाहर आते जाते थे। लोग सीधे और सच्चे थे, वे विद्या का सत्कार करते थे, और बुद्ध के धर्म्म को मानते थे। उसमें ५० संघाराम थे जिनमें १०००० अरहत थे और १० देव मन्दिर थे जिनके बहुत से अनुयायी थे।

पाटलीपुत्र का प्राचीन नगर जो कि फाहियान के समय तक बसा हुआ था अब बिलकुल उजड़ गया था और अब केवल उसकी नींव की दीवारें देख पड़ती थीं। यहां पर

हमारे यात्री ने अशोक और उसके अर्द्धभ्राता महेन्द्र, बौद्ध ग्रन्थकार नागार्जुन और अश्वघोष के विषय में तथा उन स्तूपों, विहारों और स्थानों के विषय में जिनका सम्बन्ध कि बुद्ध के जीवनचरित्र से है, बहुत कुछ वर्णन किया है, परन्तु हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे। वह गया में गया जहां कि केवल ब्राह्मणों के ही एक हजार घर थे। वहां से वह प्रसिद्ध बोधी वृक्ष और उसके पास के विहार में गया जो कि १६० वा १७० फीट ऊँचा था और बहुत ही सुन्दर बेल बूटों के काम से भरा हुआ था, "किसी स्थान पर गुथे हुए मोतियों की मूर्तियां बनी थीं, किसी स्थान पर स्वर्गीय ऋषियों की मूर्ति" और इन सब के चारों ओर तांबे का सुनहला आमलक फल था। इसके निकट ही महाबोधि संघाराम की बड़ी इमारत थी जिसे लंका के एक राजा ने बनवाया था। उसकी छः दीवारें थीं और तीन खंड ऊँचे बुर्ज थे और वह रक्षा के लिये तीस वा चालीस फीट ऊँची दीवारों से घिरा हुआ था।

"इसमें शिल्पकार ने अपनी पूरी चतुराई खर्च की है, बेल बूटे बड़े ही सुन्दर रंगों के हैं, बुद्ध की मूर्ति सोने और चांदी की बनी हुई है और उसमें रत्न जड़े हुए हैं। स्तूप ऊँचे और बड़े हैं और उनमें सुन्दर काम है।

बोधि वृक्ष के निकट के सब स्थानों को हुेनत्सांग के समय में और जब तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा तब तक बौद्ध लोग पवित्र समझते थे। प्रतिवर्ष जब कि भिक्षु लोग अपने वर्षा ऋतु के वार्षिक विश्राम को भंग करते हैं उस समय यहां सब स्थानों से हजारों और लाखों धार्मिक मनुष्य आते हैं और सात दिन और सात रात वे लोग इस जिले में भ्रमण करते हुए तथा दर्शन और पूजा

करते हुए फूलों की वर्षा करते हैं, धूप जलाते हैं और गाते बजाते हैं। बौद्धों के उत्सव भारतवर्ष में एक बीती हुई बात है और इतिहास जानने वालों के लिये उस समय के लोगों के वृत्तान्त से यह बात देखनी आवश्यक है कि अपने समय में वे उतनी ही धूम धाम और उतनी ही प्रसन्नता और बाहरी अडंबर के साथ किए जाते थे जैसे कि उत्तर काल में हिन्दुओं के त्योहार।

ह्वेनत्सांग राजगृह में आया जो कि अजातशत्रु और बिंबसार के समय में मगध की प्राचीन राजधानी थी। नगर की बाहरी दीवारें नष्ट हो गई थीं और भीतर की दीवारें अब तक गिरी पड़ी दशा में वर्तमान थीं और वे ४ मील के घेरे में थीं। हमारे यात्री ने उस बड़ी गुफा वा पत्थर के मकान को देखा जिसमें कि गौतम की मृत्यु के उपरान्त तत्काल पहिला संघ हुआ था। इस संघ का सभापति काश्यप था और उसने कहा था "आनन्द जो कि तथागत के शब्दों को बराबर सुनता था सूत्रपितकों को गाकर एकत्रित करै। उपाली जो कि शिक्षा के नियमों को स्पष्ट रीति से समझता है और जिसे सब जानने वाले लोग भली भांति जानते हैं, विनयपितक को संग्रहीत करै और मैं काश्यप धर्म्मपितक को एकत्रित करूँगा।" वर्षा ऋतु के तीन मास व्यतीत होने पर त्रिपितक का संग्रह समाप्त हो गया।

हमारा यात्री अब नलंद के महाविश्वविद्यालय में यदि हम उसे इस नाम से पुकार सकते हैं आया। इस स्थान के सन्यासी लोग जिनकी संख्या कई हजार थी बड़े ही योग्य, बुद्धिमान और प्रसिद्ध मनुष्य थे। "भारतवर्ष के सब देश उनका सत्कार करते हैं और उनके अनुसार चलते हैं। गूढ़ विषयों पर प्रश्न पूछने और उनका उत्तर देने के लिये दिन

काफी नहीं है। प्रातःकाल से रात्रि तक वे शास्त्रार्थ में लगे रहते हैं। वृद्ध और युवा परस्पर एक दूसरे को सहायता देते हैं। जो लोग त्रिपितक के प्रश्नों पर शास्त्रार्थ नहीं कर सकते उनका सत्कार नहीं किया जाता और वे लज्जा के मारे अपना मुँह छिपाने के लिये विवश होते हैं। इस कारण भिन्न भिन्न देशों से उन विद्वानों के झुण्ड अपनी शंकाओं को दूर करने के लिये यहां आते हैं जो कि शीघ्रता से शास्त्रार्थ में प्रसिद्धि पाना चाहते हैं उनके ज्ञान की धारा दूर दूर तक फैलती है। इस कारण कुछ मनुष्य नालंद के विद्यार्थियों का झूठ मूठ नाम ग्रहण कर के इधर उधर जाकर सत्कार पाते हैं।

डाक्टर फर्ग्यूसन साहब का यह कथन ठीक है कि मध्यम काल में फ्रांस के लिये जैसे क्लूनी और क्लेरवो थे वैसे ही सच्ची विद्या का केन्द्र मध्य भारतवर्ष में नालंद था और वहां से अन्य देशों में विद्या का प्रचार होता था। और दोनों धर्मों की सब बातों में जैसी अद्भुत समानता है वैसे ही दोनों धर्मों की सब रीतियों के आविष्कार और व्यवहार में बौद्ध लोग इसाइयों से पांच शताब्दी पहिले रहे।

नालंद का बड़ा बिहार जहां कि विश्वविद्यालय था उसके योग्य था। कहा जाता है कि चार राजाओं ने अर्थात् शक्रादित्य, बुद्ध गुप्त, तथागत गुप्त और बालादित्य ने बराबर इस बड़ी इमारत को बनवाने में परिश्रम किया और उसके बन जाने पर वहां जो बड़ी सभा हुई उसमें २००० मील दूर दूर से लोग एकत्रित हुए। इसके उपरान्त के राजाओं ने इसके आस पास के बहुत से दूसरे दूसरे बिहार बनवाए थे। उनमें से एक बड़ा बिहार जिसे कि बालादित्यने बनवाया था सबसे सुन्दर था। वह ३०० फीट ऊँचा था और "सुन्दरता, बड़ाई और बुद्ध की स्थापित

मूर्त्ति में वह बोधि वृक्ष के नीचे के बड़े विहार से समानता रखता है।"

मगध से ह्वेनत्सांग हिरण्यपर्वत के राज्य में आया और इस राज्य को जेनरल कनिंघाम ने मुंगेर निश्चित किया है। इस राज्य का घेरा ६०० मील का था, यहां की भूमि बहुत जोती जाती थी और बड़ी उपजाऊ थी, जलवायु अच्छी थी, और लोग सीधे और सच्चे थे। राजधानी के निकट मुंगेर के गरम सोते थे जिनमें से बहुत सा धुआं और भाफ निकलती थी।

चम्पा जो कि अंग वा पूर्वी विहार की प्राचीन राजधानी थी हमारे आज कल के भागलपुर के निकट थी। इस राज्य का घेरा ८०० मील था और भूमि सम और उपजाऊ थी और वह नियमित रूप से जोती बोई जाती थी। जल वायु कोमल और गर्म थी और लोग सीधे और सच्चे थे। राजधानी की दीवारें कोई दस फीट ऊँची थीं और दीवार की नींव एक बहुत ऊँचे चबूतरे पर से उठी थी जिसमें कि अपनी ऊँचाई से वे लोग शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकें।

अन्य स्थानों से होता हुआ हमारा यात्री पुन्द्रवा पुन्द्रवर्धन में आया जो कि आज कल का उत्तरी बंगाल है। यह राज्य ८०० मील के घेरे में था और उसमें घनी बस्ती थी। तालाब और राजकीय मकान फूलों के बन बीच बीच में थे भूमि चौरस और चिकनी थी और उसमें सब प्रकार के अन्न बहुतायत से उत्पन्न होते थे। फल यद्यपि बहुतायत से होता था तथापि इसकी बड़ी कदर की जाती थी। यहां बीस संघाराम और ३०० पुजेरी थे। भिन्न भिन्न

सम्प्रदायों के लगभग १०० देव मन्दिर थे। यहां नंगे निर्ग्रन्थ लोग सबसे अधिक थे।

पूरब की ओर और एक बड़ी नदी ब्रह्मपुत्र के उस पार कामरूप का प्रबल राज्य था जिसका घेरा २००० मील था। यह बात स्पष्ट है कि उस समय में इस राज्य में आधुनिक आसाम, मनीपुर, कचार, मैमन सिंह और सिलहट सम्मिलित थे। भूमि उपजाऊ थी और जोती बोई जाती थी और उसमें नारियल और दूसरे फल बहुतायत से होते थे। नदियों वा बांध का जल कस्बों के चारों ओर बहता था। जलवायु कोमल और सम थी और यहां के लोग सीधे और सच्चे थे। यहां लोग कुछ नाटे होते थे और उनका रंग पीला होता था और उनकी भाषा मध्यभारत वासियों से भिन्न थी। परन्तु वे लोग क्रोधी होते थे, उनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी और वे अध्ययन में बड़े दत्त चित्त थे।

लोग बुद्ध के धर्म्म को नहीं मानते थे और वे देवों की पूजा करते थे और वहां लगभग १०० देव मन्दिर थे। वहां एक भी बौद्ध संघाराम नहीं था। राजा जाति का ब्राह्मण था उसका नाम भास्कर वर्म्मन था, और उसे कुमार की पदवी थी। हमारे पाठकों को यह स्मरण होगा कि इसी राजा ने कन्नौज के प्रतापी शीलादित्य से हुेनत्सांग का परिचय कराया था।

कामरूप के दक्षिण में समतत वा पूर्वी बंगाल था। इस राज्य का घेरा ६०० मील था, यहां की भूमि नीची और उपजाऊ थी और वह नियमित रीति से जोती बोई जाती थी। इसकी राजधानी ६ मील के घेरे में थी। यहां के

लोग नाटे और काले रंग के थे परन्तु वे बलिष्ठ और विद्या के अनुरागी थे तथा विद्योपार्जन में परिश्रम करते थे—और ये बातें पूर्वी बंगाल के लोगों में आज तक पाई जाती हैं। वहां कोई ३० संघाराम और लगभग दो हजार सन्यासी थे और देव मन्दिर लगभग १०० के थे। नंगे निर्ग्रन्थ लोग असंख्य थे।

समतत के उपरान्त ताम्रलिप्ति का राज्य अर्थात् तुमलूक देश अथवा दक्षिण पश्चिमी बंगाल था जिसमें आधुनिक मिदनापुर भी सम्मिलित है। यह देश ३०० मील के घेरे में था और इसकी राजधानी एक बंदरगाह थी। यहां के लोग बलवान और शूर थे परन्तु वे फुर्तीले और जल्दीबाज थे देश का किनारा ऐसा था कि समुद्र देश के भीतर कुछ घुस आया था और यहां पर अद्भुत अमूल वस्तुएं और रत्न एकत्रित होते थे और यहां के लोग धनाढ्य थे। यहां दस संघाराम और पचास देव मंदिर थे।

ह्वनत्सांग इसके उपरान्त कर्ण सुवर्ण का वर्णन करता है जो कि पश्चिमी बंगाल और आधुनिक मुर्शिदाबाद समझा गया है। हम देख चुके हैं कि इसी देश के राजा शशांक ने कन्नौज के प्रतापी शीलादित्य के बड़े भाई को हराया और मार डाला था। इस देश का घेरा ३०० मील था और इसकी बस्ती घनी थी। लोग विद्या के प्रेमी तथा सच्चे और मिलनसार थे। यहां की भूमि नियमित रूप पर जोती बोई जाती और जलवायु अच्छी थी। यहां दस संघाराम और पचास देव मन्दिर थे।

ऊपर के वृत्तान्त से पाठक लोग देखेंगे कि उस समय में खास बंगाल (अर्थात् बिहार और उड़ीसा को छोड़ कर)

पांच बड़े बड़े राज्यों में बंटा हुआ था। उत्तरी बंगाल में पुन्द्र राज्य था, आसाम और उत्तर पश्चिमी बंगाल में कामरूप राज्य था, पूर्वी बङ्गाल समतत था, दक्षिण पश्चिमी बङ्गाल ताम्रलिप्ति था और पश्चिमी बङ्गाल कर्णसुवर्ण था। ह्वेनत्सांग का उत्तरी भारतवर्ष का वृत्तान्त बङ्गाल के साथ समाप्त होता है। अब हम अपने योग्य पथप्रदर्शक के साथ दक्षिणी भारतवर्ष का वृत्तान्त जानेंगे।

उद्र वा उड़ीसा का राज्य १४०० मील के घेरे में था और उसकी राजधानी आधुनिक जयपुर के निकट पांच मील के घेरे में थी। यहां की भूमि उपजाऊ थी और उसमें सब प्रकार के अन्न और बहुत से अद्भुत वृक्ष और फूल उत्पन्न होते थे परन्तु यहां के लोग असभ्य थे और उनका रङ्ग पीलापन लिए हुए काला था और उन लोगों की भाषा मध्य भारतवर्ष से भिन्न थी। परन्तु वे लोग विद्या के प्रेमी थे और उनका देश उस बौद्ध धर्म्म की रक्षा का स्थान था जिसका कि भारतवर्ष के अन्य स्थानों में पतन हो गया था। उसमें लगभग १०० संघाराम थे जिनमें कोई दस हजार सन्यासी थे और देव मन्दिर केवल ५० थे।

उड़ीसा तीर्थस्थान पहिले ही हो गया था यद्यपि उस समय तक वहां पुरी का मन्दिर नहीं बना था। इस देश की दक्षिण पश्चिमी सीमा पर एक बड़े पर्वत पर पुष्पगिरि नामक एक संघाराम था और कहा जाता है कि इस संघाराम के पत्थर के स्तूप में एक अद्भुत प्रकाश मिलता था। बौद्ध लोग दूर दूर से इस स्थान पर आते थे और सुन्दर कार्चोबी के छाते भेंट करते थे और उन्हें गुम्बज के सिरे पर एक गुलदान के नीचे रखते थे और वे पत्थर में सूइयों की नाईं खड़े

रहते थे। झण्डा गाड़ने की रीति जगन्नाथ में आज तक प्रचलित है।

दक्षिण पश्चिम की ओर चरित्र नाम का एक बड़ा बन्दरगाह था। यहां से व्यापारी लोग दूर दूर देशों के लिये यात्रा करते हैं और विदेशी लोग आया जाया करते हैं और अपनी यात्रा में टिकते हैं। नगर की दीवार दृढ़ और ऊँची है। यहां सब प्रकार की अपूर्व और बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती हैं।

उड़ीसा के दक्षिण पश्चिम ओर चिल्क झील के तट पर कान्योध का राज्य था। वहां के लोग वीर और उद्योगी परन्तु वे काले और मैले थे। वे कुछ सुशील और बड़े सच्चे थे और लिखने में मध्य भारतवर्ष के अक्षर काम में लाते थे परन्तु उन लोगों का उच्चारण बिलकुल भिन्न था। यहां पर बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार नहीं था, हिन्दू धर्म्म प्रचलित था।

यह जाति बड़ी प्रबल थी, उसके नगर दृढ़ और ऊँचे थे और उसके सैनिक वीर और साहसी थे और वे लोग अपने बल से आस पास के प्रान्तों का शासन करते थे और कोई उन्हें नहीं रोक सकता था। उनका देश समुद्र के तट पर था इस कारण लोगों को बहुत सी अपूर्व और बहुमूल्य वस्तुएँ मिल जाती थीं और लेन देन में कौड़ी और मोतियों को काम में लाते थे। बोझों को खींचने के लिये हाथी काम में लाए जाते थे।

इसके उत्तर पश्चिम की ओर एक बड़े जंगल के पार कलिंग का प्राचीन राज्य था। इस राज्य का घेरा १०० मील था और इसकी राजधानी पाँच मील के घेरे में थी। यहाँ

की भूमि उपजाऊ थी और वह नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी परन्तु यहां पर बहुत से जंगल थे जिनमें जंगली हाथी भी थे। यहां के लोग यद्यपि जोशीले उजड्ड और असभ्य थे तथापि वे विश्वासपात्र और अपनी बात के बड़े पक्के थे।

हुनत्सांग के समय में कलिंग की ऐसी अवस्था थी परन्तु हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि मेगास्थनीज़ के समय में कलिंग का राज्य और अधिकार बंगाल से लेकर गोदावरी के मुहाने तक समस्त समुद्र तट तक फैला हुआ था। उसकी प्रबलता का स्मरण अब तक बना था क्योंकि हुनत्सांग कहता है कि "प्राचीन समय में कलिंग के राज्य की बस्ती बहुत घनी थी। लोगों के कन्धे एक दूसरे से रगड़ खाते थे और रथ के पहियों की धूरी एक दूसरे से टकराती थी परन्तु कलिंग के प्रभुत्व का समय अब नहीं रहा था और उस प्राचीन राज्य के अंशों में से बंगाल और उड़ीसा के नए राज्यों की उत्पत्ति हो गई थी। ऐसा भारतवर्ष के इतिहास में सदैव पाया जाता है। राज्य और जातियां अधिकार और सभ्यता में बढ़ती हैं और फिर पारी पारी से उनका पतन होता है। फिर भी इन जातियों के बड़े समूह में एक प्रकार राजकीय एकता थी, धर्म्म भाषा और सभ्यता में एक ऐसा मिलाप था जिसने कि प्राचीन समय में भारतवर्ष को एक बड़ा देश बना रक्खा था।

कलिंग के उत्तर पश्चिम जंगलों और पहाड़ियों में हो कर कोशल का मार्ग था जो कि आधुनिक बरार का देश है। इस देश का घेरा एक हजार मील और उसकी राजधानी का आठ मील था, कस्बे और गांव बहुत आसपास थे और बस्ती घनी थी। यहां के लोग लम्बे काले कट्टर जोशीले और वीर थे और उनमें कुछ बौद्ध और कुछ हिन्दू थे।

इन दक्षिणी कोशलों के सम्बन्ध में (जिन्हें कि अवध के कोशलों से भिन्न समझना चाहिए) ह्वेनत्सांग प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार नागार्जुन और राजा सद्वह का वर्णन करता है जिसने एक चट्टान को कटवा कर उसमें निवास के लिये एक संघाराम बनवाया था। न तो फाहियान और न ह्वेनत्सांग ने स्वयं इस चट्टान के मठ को देखा था परन्तु दोनों ने इसका वर्णन किया है और उनके समय में यह बड़ा प्रसिद्ध रहा होगा। कहा गया है कि राजा सद्वह ने "इस चट्टान के बीच में गड़हा करवाया और उसमें एक संघाराम बनवाया। लगभग दस ली (दो मील) की दूरी पर उन्होंने एक सुरंग खुदवाकर एक ढँका हुआ मार्ग खोला। इस प्रकार चट्टान के नीचे खड़े रहने से बिलकुल कटी हुई चट्टानों और लम्बे बरामदों के बीच जिनमें नीचे चलने के लिये गुफाएं और ऊँचे बुर्ज हैं, खण्डदार इमारत को देख सकते हैं जो कि पांच खण्डों की ऊँची है और प्रत्येक खण्ड में चार दलान तथा घिरे हुए बिहार हैं। यह भी कहा है कि इस संघाराम में बौद्ध पुजेरी लोग परस्पर झगड़े और राजा के पास गये और ब्राह्मणों ने इस अवसर को पाकर संघाराम को नाश कर दिया और उस स्थान की गढ़बन्दी करदी।

इसके उपरान्त हमारा यात्री अन्ध्रों के प्राचीन देश में आया जिन्होंने कि ईसा के कई शताब्दियों पहिले दक्षिणी भारतवर्ष में अपनी सभ्यता की उन्नति की थी तथा अपने राज्य को बढ़ाया था और जिनका इसके उपरान्त मगध और भारतवर्ष में प्रधान शासन था। तबसे यह प्रधानता गुप्तों और उज्जैनियों के हाथ में चली गई थी और सातवीं शताब्दी में अन्ध्र लोगों का अधिकार बहुत कम रह गया था। उनका

राज्य केवल ६०० मील के घेरे में था और वह नियमित रूप से जोता बोया जाता था। लोग कट्टर और जोशीले थे। यहां २० संघाराम और ३० देव मन्दिर थे।

इस देश के दक्षिण में धनकटक अर्थात् अन्ध्रों का बड़ा देश था जिसका घेरा १,२०० मील का था और जिसकी राजधानी ८ मील के घेरे में थी और अब यह जाना गया है कि आधुनिक काल की वह बेजवाड़ा थी। भूमि उपजाऊ थी और उसमें बड़ी फसल उत्पन्न होती थी, परन्तु देश का बहुत भाग बियाबान था और कस्बों में बहुत थोड़ी बस्ती थी। लोग पीलापन लिए काले रङ्ग के थे, वे कट्टर और जोशीले थे परन्तु विद्या के प्रेमी थे। प्राचीन मठ अधिकांश उजाड़ और खंडहर हो गए थे, उनमें से केवल ६० मठों में मनुष्य रहते थे। देव मन्दिर लगभग १०० के थे और उनके बहुत से अनुयायी थे।

हुेनत्सांग नगर के पूरब और पश्चिम ओर दो बड़े मठों का उल्लेख करता है जो कि पूर्वशिला और अपर शिला कहलाते थे और जिन्हें किसी प्राचीन राजा ने बुद्ध के सम्मानार्थ बनवाया था। उसने घाटी में गड़हा खुदवाया, सड़क बनवाई, और पहाड़ी अड़ारों को खुलवाया।

परन्तु गत १०० वर्षों से कोई पुजेरी नहीं है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब ने पश्चिमी मठ का अमरावती के उस बड़े स्तूप से मिलान किया है जो कि १७९६ में जाना गया और खुदवाया गया था। डाक्टर बर्जेस साहेब वहाँ के पत्थरों पर खुदे हुए एक लेख से यह निश्चय करते हैं कि अमरावती का स्तूप यदि अधिक प्राचीन समय में नहीं तो ईसा की दूसरी शताब्दी में बन गया था अथवा बन रहा था।

बड़े अन्ध्र देश के दक्षिण पश्चिम चोला का राज्य था जो कि ५०० मील के घेरे में था परन्तु उजाड़ और जङ्गल था। यहाँ की बस्ती थोड़ी थी। डाँकू लोग इस खुले देश में लूट पाट मचाते थे और यहाँ के लोग दुराचारी और निर्दय थे।

इसके दक्षिण ओर द्राविड़ का राज्य था जिसका घेरा १२०० मील का था और जिसकी राजधानी प्रसिद्ध काञ्ची वा कांञ्चपुर थी जो कि आधुनिक काञ्चीवरम से मिलान की गई है। यहाँ की भूमि उपजाऊ थी और नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी और यहाँ के लोग वीर सच्चे और खरे और विद्या के प्रेमी थे और वे मध्य भारतवर्ष की भाषा बोलते थे। यहाँ कोई एक सौ संघाराम और दस हजार पुजेरी थे।

द्राविड़ के दक्षिण मलकूट का राज्य था जिससे डाक्टर बर्नेल साहेब ने कावेरी नदी के डेल्टा से मिलाया है। यहाँ के लोगों का रङ्ग काला था। वे दृढ़ और जोशीले थे परन्तु विद्या के प्रेमी नहीं थे और पूर्णतया व्यापार के उद्योग में लगे हुए थे। इस देश के दक्षिण ओर प्रसिद्ध मलयपर्वत अर्थात् मलाबार घाट के दक्षिणी भाग थे जिनमें चन्दन और कपूर होता था। इस पर्वत श्रेणी के पूरब ओर पोटलक पर्वत था जहाँ कि यह समझा जाता था कि बुद्ध महात्मा अवलोकितेश्वर ने जिनकी पूजा तिब्बत, चीन और जापान में उत्तरी बौद्ध लोग करते हैं कुछ समय तक निवास किया था।

ह्वेनत्सांग लंका में नहीं गया परन्तु फिर भी वह इस टापू का, उसके हरी भरी बनस्पति का, उसकी विस्तृत खेती का और उसकी भरी पूरी बस्ती का उल्लेख करता है। वह सिंह के विषय में, राक्षसों के विषय में, और इस टापू में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले अशोक के भाई महेन्द्र के विषय की

कथाओं का उल्लेख करता है और वहाँ ह्वेनत्सांग के समय में १०० मठ और २०००० पुजेरी थे। वह इस टापू के तटों में रत्नों के अधिक पाए जाने का वर्णन करता है और टापू के दक्षिण पूरब की ओर लंका पर्वत को लिखता है।

द्राविड़ से उत्तर की ओर यात्रा करते हुए ह्वेनत्सांग कोकन में आया जो कि १०००० मील के घेरे में था। यहाँ की भूमि उपजाऊ थी और वह नियमित रूप पर बोई जाती थी। लोग काले जङ्गली और क्रोधी थे परन्तु वे विद्या का सम्मान करते थे।

कोकन के उत्तर पश्चिम ओर एक बड़े जङ्गल के पार जिसमें कि जङ्गली पशु और लुटेरे रहते थे महाराष्ट्र का बड़ा देश था जिसका घेरा १००० मील था। भूमि उपजाऊ थी और नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी। यहाँ के लोग सच्चे परन्तु कठोर और बदला लेने वाले थे। वे "अपने उपकार करने वाले के अनुगृहीत होते हैं और अपने शत्रुओं के लिये निठुर थे। यदि वे अपमानित किए जाँय तो अपना पलटा देने के लिए वे अपनी जान पर खेल जाँयगे। यदि उनसे किसी दुखी मनुष्य की सहायता करने की प्रार्थना की जाय तो उसे सहायता करने की जल्दी में अपने को भूल जाँयगे। जब वे पलटा लेने जाँयगे तो अपने शत्रु को पहिले सूचना दे देंगे और तब दोनों शस्त्र से सज्जित होकर एक दूसरों से भालों से लड़ेंगे। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जाय तो वे उसे कोई दण्ड नहीं देते परन्तु उसे स्त्रियों का कपड़ा देकर निकाल देते हैं कि जिसमें वह अपनी मृत्यु का आप उपाय करे।

राजा क्षत्रिय जाति का है और उसका नाम पुलकेशि है। उसके उपाय और कार्य्य दूर दूर तक प्रसिद्ध हैं और उसके

परोपकारी कार्य्य बहुत दूर तक पाए जाते हैं। उसकी प्रजा पूरी तरह से उसकी आज्ञा पालन करती है। इस समय (कन्नौज के) शीलादित्य महाराज ने पूरब से लेकर पश्चिम तक सब जातियों को विजय किया है और अपनी विजय दूर दूर के देशों में फैलाई है परन्तु केवल इसी देश के लोगों ने उसकी आधीनता नहीं स्वीकार की। वह पांचो भागों से सेना एकत्रित करके और सब देशों से सर्वोत्तम सेनापतियों को बुलवा कर स्वयं इस सेना को लेकर इन लोगों को दण्ड देने और अधीन करने के लिए गया था परन्तु उसने अब तक उनकी सेना को पराजित नहीं किया और न शीलादित्य के भाग्य में पुलकेशि को विजय करना बदा था। पुलकेशि ने उसे युद्ध में हराया और घमण्डी मरहठों की स्वतंत्रता स्थिर रक्खी। उसी प्रकार १००० वर्षों के उपरान्त पुलकेश के एक उत्तराधिकारी ने उत्तरी भारतवर्ष के एक सम्राट् औरङ्गजेब का सामना किया था और मरहठों की गई हुई स्वतंत्रता और प्रबलता को पुनः प्राप्त किया था। जब मोगलों और राजपूतों दोनों ही के अधिकार का पतन हो गया था उस समय पुलकेशि के देशवासी ही अंग्रेजों से भारतवर्ष के राज्य के लिये लड़े थे।

महाराष्ट्र देश की पूर्वी सीमा पर एक बड़ा पर्वत था जिसमें बहुत ऊँची ऊँची चट्टान और ऊँचे दालान तथा खड़े पर्वतों की लगातार श्रेणी थी। "इसमें एक संघाराम है जो कि एक अन्धकारमय घाटी में बना है उसके ऊँचे कमरे और घनी दालानें चट्टानों के सामने फैली हुई हैं। उसके प्रत्येक खण्ड के पीछे की ओर चट्टान और सामने की ओर घाटी है।" प्रसिद्ध एजेण्टा की ये गुफाएँ हैं जो कि एक एकान्त घाटी के किनारे की एक ऊँची और लगभग खड़ी चट्टानों में खुदी हुई

हैं। आधुनिक पाठक लोग इस सब से अद्भुत कारीगरी की इमारत से फर्ग्यूसन और बर्जेस साहेब के वृत्तान्त और चित्रों द्वारा परिचित हैं। हुेनत्सांग इसके अतिरिक्त कहता है कि यहाँ एक बड़ा विहार लगभग १०० फीट ऊँचा था और उसके बीच में ७० फीट ऊँची बुद्ध की एक पत्थर की मूर्ति थी। इसके ऊपर सात मंजिल का एक पत्थर का चँदवा था जो कि देखने में बिना किसी आधार के खड़ा हुआ था।

महाराष्ट्र के पश्चिम वा उत्तर पश्चिम में भरूकच्छ वा बरूच का देश था जिसका घेरा ५० मील था। यहां की भूमि खारी थी और यहां वृक्ष बहुत दूर दूर पर तथा बहुत कम होते थे और लोग समुद्र के मार्ग से ही अपना सब अन्न प्राप्त करते थे।

वहां से हुेनत्सांग मालवा के प्राचीन देश में गया, वह कहता है कि "दो देश अपने निवासियों की बड़ी विद्या के लिये प्रसिद्ध हैं अर्थात् दक्षिण-पश्चिम में मालव और उत्तर-पूरब में मगध।" इसके आगे हुेनत्सांग फिर कहता है कि इस देश के ग्रंथों में लिखा है कि इस के साठ वर्ष पहिले शीलादित्य राजा था जो कि बड़ा विद्वान था और बुद्धि के लिये प्रसिद्ध था, विद्या में उसकी निपुणता पूर्ण थी। यह प्रथम शीलादित्य था जिसने कि सम्भवतः ५५० ईस्वी से ६०० ईस्वी तक राज्य किया और जो सम्भवतः प्रतापी विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी था। वह राजा जिसे हुेनत्सांग ने कन्नौज में देखा था और जो पुलकेशि तथा मरहठों को अपने अधीन करने का उद्योग कर रहा था शीलादित्य द्वितीय था जिसने लगभग ६१० ईस्वी से ६५० ईस्वी तक राज्य किया।

मालव में ह्वेनत्सांग के समय में दोनों धर्म्म प्रचलित थे। यहां लगभग १०० संघाराम और १०० देव मन्दिर थे।

ह्वेनत्सांग तब अटाली और कच्छ में गया और तब वल्लभी में आया जो कि प्रतापी वल्लभी वंश का मुख्य स्थान था। "यहां की भूमि जल वायु और लोग मालव राज्य की नांई हैं, बस्ती घनी है और धन बहुतायत से है। यहां कोई एक सौ घर करोड़पतियों के हैं।

सौराष्ट्र और गुजरात, सिन्ध और मुलतान को देख कर इस प्रसिद्ध यात्री ने भारतवर्ष से प्रस्थान किया। परन्तु हम उससे बिदा होने के पहिले उसकी डायरी के कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे जिसमें देश की राज्य प्रणाली और लोगों की चालव्यवहार का वर्णन है।

"देश की राज्य प्रणाली उपकारी सिद्धान्तों पर होने के कारण शासन रीति सरल है। राज्य चार मुख्य भागों में बंटा है। एक भाग राज्य प्रबंध चलाने तथा यज्ञादि के लिये है, दूसरा भाग मंत्री और प्रधान राज्य कर्म्मचारियों की आर्थिक सहायता के लिये, तीसरा भाग बड़े बड़े योग्य मनुष्यों के पुरस्कार के लिये और चौथा भाग धार्मिक लोगों को दान के लिये जिससे कि यश की वृद्धि होती है। इस प्रकार से लोगों के कर हल्के हैं और उनसे शारीरिक सेवा थोड़ी ली जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सांसारिक सम्पत्ति को शान्ति के साथ रखता है और सब लोग अपने निर्वाह के लिये भूमि को जोतते बोते हैं। जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें उपज का छठां भाग कर की भांति देना पड़ता है। व्यापारी लोग जो वाणिज्य करते हैं अपना लेन देन करने के लिये आते जाते हैं। नदी के मार्ग

तथा सड़क बहुत थोड़ी चुंगी देने पर खुले हैं। जब कभी राज्य कार्य के लिये मनुष्यों की आवश्यकता होती है तो उनसे काम लिया जाता है परन्तु इसके लिये उनको मजदूरी दी जाती है। जितना कार्य होता है ठीक उसी के अनुसार मज़दूरी दी जाती है।

"सैनिक लोग सीमा प्रदेश की रक्षा करते हैं और उपद्रवी लोगों को दण्ड देने के लिये भेजे जाते हैं। वे रात्रि को सवार होकर राजभवन के चारों ओर पहरा भी देते हैं। सैनिक लोग कार्य की आवश्यकता के अनुसार रक्खे जाते हैं, उन्हें कुछ द्रव्य देने की प्रतिज्ञा की जाती है और प्रगट रूप से उनका नाम लिखा जाता है। शासकों, मंत्रियों, दण्डनायकों तथा कर्मचारियों को उनके निर्वाह के लिये कुछ भूमि मिलती थी।"

ऊपर के वृत्तान्त से विदित होगा कि भारतवर्ष की प्राचीन रीति के अनुसार सब कर्मचारियों को उनकी सेवा के लिये भूमि दी जाती थी। ह्वेनत्साङ्ग ने जो राजा की निज की सम्पत्ति लिखी है उससे उसका तात्पर्य सब राज्य से है पर ऐसे गांव या भूमि को छोड़ कर जो कि किसी मनुष्य वा मन्दिर वा मठ को सदा के लिये दे दी गई हो अथवा जो राज्य कर्मचारियों के लिये नियत हो। शान्ति और युद्ध में राज्य का तथा राजा के घर का सब व्यय राजा की सम्पत्ति तथा कर की आय से किया जाता था।

लोगों की चाल व्यवहार के विषय में ह्वेनत्साङ्ग उनके सीधेपन तथा सचाई की आदरणीय साक्षी देता है। वह कहता है कि 'यद्यपि वे स्वभावतः ओछे हृदय के नहीं हैं तथापि वे सच्चे और आदरणीय हैं। धन सम्बन्धी बातों

में वे निष्कपट और न्याय करने में गम्भीर हैं। वे लोग दूसरे जन्म में प्रतिफल पाने से डरते हैं और इस संसार की वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं। वे लोग धोखा देने वाले अथवा छली नहीं हैं और अपनी शपथ अथवा प्रतिज्ञा के सच्चे हैं'।

यही सच्ची सम्मति मेगास्थिनीज़ के समय से लेकर सब विचारवान् यात्रियों की रही है जिन्होंने कि हिन्दुओं को उनके घरों और गांओं में देखा है और जो उनके नित्य कर्म्मों और प्रति दिन के व्यवहारों में सम्मिलित हुए हैं। उन आधुनिक अंगरेजों में जो कि भारतवर्ष में रहे हैं और यहां के लोगों में हिले मिले हैं, ऐसे ही एक निरीक्षक कर्नल स्लीमेन साहब हैं। कर्नल साहब कहते हैं कि गांव के रहने वाले स्वभावतः अपनी पंचायतों में दृढ़ता से सत्य का साथ देते हैं और "मेरे सामने सैकड़ों ऐसे अभियोग हुए हैं जिनमें कि मनुष्य की सम्पत्ति, स्वाधीनता और प्राण उसके झूठ बोल देने पर निर्भर रही है, पर उसने झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया है"।

अध्याय ३

वल्लभी लोग और राजपूत लोग ।

गुप्तवंश की चढ़ती के दिनों में गुजरात इसी वंश के राजाओं के आधीन रहा और इस कारण पांचवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध भाग में जब गुजरात के वल्लभी लोगों ने स्वतंत्रता और प्रबलता प्राप्त की तो उन्हों ने स्वभावतः गुप्त संवत् को प्रचलित रक्खा जो कि सन् ३१९ ईस्वी से गिना जाता है। जिस समय कि गुप्तों का बल, जो कि उस समय भारतवर्ष के सम्राट् थे घट रहा था उस समय भटार्क नामक एक उद्योगी सेनापति गुजरात में स्वतन्त्र हो गया और वह सौराष्ट्र के वल्लभी वंश का संस्थापक हुआ।

वल्लभी राजाओं की वंशावली तथा उनका इतिहास जो बहुत से शिलालेख मिले हैं उनसे विदित हुआ है। उनमें से दो ताम्र पत्र सब से प्राचीन हैं जो कि गुजरात में ५० वर्षों से अधिक समय हुआ कि खोदने में मिले थे। उन्हें डबल्यू० एच० वाथेन साहब ने सन् १८३५ में प्रकाशित किया था और वे बड़े ही काम के हैं।

सेनापति भटार्क के विषय में, जो कि इस वंश का संस्थापक है, कहा गया है कि उसने "अपने शत्रुओं के देश में सैकड़ों युद्ध में यश प्राप्त किया" और सब वंशों के संस्थापकों की नाईं वह बड़ा योधा और योग्यता से राज्य प्रबन्ध करने वाला रहा होगा। उसके चार पुत्र थे अर्थात् धरसेन, द्रोणसिंह, ध्रुवसेन, और धरपट्ट। इनमें से पहिला

भाई सेनापति कहा गया है और यह स्पष्ट है कि उसने अब तक राजा की पदवी ग्रहण नहीं की थी, परन्तु उससे छोटे भाई ने "स्वयं बड़े सम्राट् (सम्भवतः कन्नौज का) से राजतिलक पाया था" और वह श्रीमहाराज द्रोणसिंह कहा गया है। उसके अन्य दोनों भाई भी इसी भांति श्रीमहाराज ध्रुवसेन और श्रीमहाराज धरपत्त कहे गए हैं।

धरपत्त का पुत्र गुहसेन था जो कि "शत्रुओं के दलों का नाशक" था और उसके पुत्र धरसेन द्वितीय ने दान दिया था।

वाथेन साहब के दूसरे ताम्रपत्र में धरसेन द्वितीय के उत्तराधिकारी शीलादित्य खरग्रह, धरसेन तृतीय, ध्रुवसेन द्वितीय, धरसेन चतुर्थ, शीलादित्य द्वितीय (यहां पर दो वा तीन नाम अस्पष्ट हैं), खरग्रह द्वितीय, शीलादित्य तृतीय और शीलादित्य चतुर्थ कहे गए हैं। एक शिलालेख में, जो कि हरिवल्लभ के सन् १८७८ में मिला था, इन राजाओं की सूची शीलादित्य सप्तम तक दी है जिसने कि आठवीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया है। इस प्रकार हमें एक ही लेख में तीन शताब्दियों तक की इस वंश के राजाओं की पूरी सूची मिलती है अर्थात् भटार्क से लेकर, जिसने कि पांचवीं शताब्दी के अन्त में इस वंश का आरम्भ किया था, शीलादित्य सप्तम तक जिसने कि आठवीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया। निम्न लिखित वंश वृक्ष तथा तिथियों से इनके नाम सहज ही स्पष्ट हो जायँगे।

भटार्क ।
(लगभग ४९० ई०)

- धरसेन प्रथम
- द्रोणसिंह
- ध्रुवसेन प्रथम (५२६ ई०)
- धरपट्ट
  - गुहसेन (५५९, ५६५ और ५६७ ई०)
    - धरसेन द्वितीय (५७१, ५८८ और ५८९ ई०)
      - शीलादित्य प्रथम (६०५, ६०९ ई०)
        - देरभट
          - शीलादित्य द्वितीय
            - शीलादित्य तृतीय (६७८ ई०)
              - शीलादित्य चतुर्थ (६९१ ई०)
                - शीलादित्य पञ्चम (७२२ ई०)
                  - शीलादित्य षष्ठ (७६० ई०)
                    - शीलादित्य सप्तम (७६६ ई०)
          - खरग्रह द्वितीय (६५७ ई०)
          - ध्रुवसेन तृतीय
      - खरग्रह प्रथम
        - धरसेन तृतीय
        - ध्रुवसेन द्वितीय (६२९ ई०)
          - धरसेन चतुर्थ (६४५, ६४९ ई०)

अब हमें केवल यह कहना है कि जब ह्वेनत्सांग वल्लभी में पहुँचा तो उसने वहां के लोगों को धनाढ्य प्रबल और सुसम्पन्न पाया और इनके अधीन सौराष्ट्र देश था। उनकी राजधानी में दूर दूर से बहुमूल्य पदार्थ बहुतायत से एकत्रित किए जाते थे जिससे कि वल्लभी लोगों का उद्योगपूर्ण समुद्री व्यापार प्रगट होता था। इस प्रबल जाति के पतन होने का कारण विदित नहीं है परन्तु इसमें बहुत ही कम सन्देह हो सकता है कि जिस समय वल्लभी लोगों का पतन हो रहा था उस समय पश्चिमी भारतवर्ष में राजपूत लोगों का प्रताप और यश बढ़ रहा था।

कई प्रमाणों से राजपूत लोग पश्चिमी भारतवर्ष में प्रभुत्व में वल्लभी लोगों के उत्तराधिकारी समझे जा सकते हैं, जिस भांति कि स्वयं वल्लभी लोग गुप्तों के उत्तराधिकारी थे। और सबसे घमण्डी राजपूत लोग अर्थात् मेवाड़ के राना लोग वल्लभियों से अपनी उत्पत्ति की कल्पना करते थे। जब कि ८ वीं शताब्दी के अन्त में गुजरात में वल्लभी लोगों के स्थान पर राजपूत लोग प्रबल हुए और वल्लभीपुर के पतन के साथ ही साथ पट्टन का उदय हुआ तो उत्तरी भारतवर्ष के इतिहास में फिर कोई समानता न रह गई। वहां ७५० ई० के लगभग उज्जैनी और कन्नौज के वंशों का लोप हो गया जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। उस समय से लेकर १० वीं शताब्दी तक उत्तरी भारतवर्ष का इतिहास पूर्णतया शून्य है। हमें दक्षिण में चालुकों का, उत्तर पश्चिम की छोर पर काश्मीर के राजाओं का, पूरब में बंगाल और उड़ीसा के राजाओं का वृत्तान्त नहीं मिलता जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, और न उत्तरी भारतवर्ष में इस समय का बना हुआ शिल्प का कोई बड़ा नमूना ही इमारत के रूप में मिलता

है । इन दोनों शताब्दियों के ऊपर अन्धकार का एक बड़ा भारी परदा पड़ा हुआ है जिसे कि इतिहासज्ञ लोग अब तक नहीं हटा सके हैं ।

जब दसवीं शताब्दी के अन्त में यह अन्धकार का परदा दूर होता है तो हम नए पात्रों और नए दृश्यों को पाते हैं । इस समय पौराणिक हिन्दू धर्म को हम भारतवर्ष में सबसे प्रधान पाते हैं और इसकी प्रधानता एक नई और बीर जाति अर्थात् राजपूतों की राजकीय प्रधानता के साथ साथ है । राजपूत लोग अपने राज्यों से निकल कर गुजरात और दक्षिणी भारतवर्ष में आगए थे और वे भारतवर्ष के दूर दूर के भागों यथा दिल्ली कन्नौज अजमेर के स्वामी हो गए थे । सर्वत्र वे पौराणिक हिन्दू धर्म्म के अनुकूल रहे और ब्राह्मणों ने उन्हें उनके इस परिश्रम का पुरस्कार दिया और इस नई जाति को आधुनिक समय का क्षत्रिय माना ।

इन परिणामों से हम आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के अन्धकारमय समय का कुछ इतिहास जान सकते हैं । यह अभागा समय भयङ्कर युद्धों का तथा प्राचीन प्रणालियों और वंशों के नष्ट होने का समय था । प्राचीन वंशों का क्षीणता अथवा उपद्रव के कारण पतन हुआ और एक नई तथा बलवान जाति ने उनका स्थान ग्रहण किया । यह उसी दृश्य का पुनराभिनय था जो कि भारतवर्ष के इतिहास में इसके पूर्व कम से कम एक बार हो चुका था । इसी प्रकार ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में बलवान और युवा मगध लोगों ने जो कि ऐतिहासिक काव्य काल में आर्य्य जाति के बाहर समझे जाते थे, प्रबलता प्राप्त की, अपना राज्य

बढ़ाया और काशी, कोशल, कुरू और पञ्चाल लोगों के प्राचीन राज्य पर अपना प्रभुत्व जमाया। और जब म्यगास्थिनीज़ भारतवर्ष में आया तो उसने प्राच्यों अर्थात् मगध लोगों को उत्तरी भारतवर्ष में सर्व प्रधान पाया।

इसी प्रकार आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के अन्धकारमय समय में राजपूत जाति, जो कि इसके पूर्व कठिनता से आर्य्य हिन्दू जाति में समझी जाती थी, जातियों के झगड़ों के बीच में आगे बढ़ी और उसने अपने श्रेष्ठ बल और वीरता से कन्नौज दिल्ली लाहौर तथा अन्य स्थानों के शून्य राज्य सिंहासनों को प्राप्त किया। ईसा के पहिले चौथी शताब्दी की नाईं उसके उपरान्त १०वीं शताब्दी में भी किसी राज्य वंश को प्रबलता नहीं हुई थी वरन् एक जाति की प्रबलता अर्थात् प्रत्येक अवस्था में एक नई वीर और बलवान जाति प्राचीन और शिक्षित परन्तु लुप्त प्राय जातियों के खाली किए हुए स्थान को लेने के लिये आगे बढ़ी थी। और मानो इस समानता को पूर्ण करने के लिये इन दोनों राजकीय उलट फेर के साथ ही साथ धर्म्म का भी उलट फेर हुआ। भारतवर्ष की प्राचीन और सुशिक्षित जातियों पर मगध लोगों की प्रबलता की वृद्धि ने इस देश के प्राचीन और विद्वत्तापूर्ण धर्म्म के विरुद्ध एक नए बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया और राजपूतों की वृद्धि ने भारतवर्ष में अन्तिम बार पौराणिक धर्म्म की विजय प्राप्त की।

हम इस पुस्तक की भूमिका में दिखला चुके हैं कि पांचवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के यूरप के इतिहास के साथ भारतवर्ष के आठवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी के इतिहास की और भी अद्भुत समानता है।

यूरप और भारतवर्ष दोनों ही में प्राचीन राज्य और प्राचीन प्रणालियों का नाश हुआ, नई जातियों ने भूमि पर अपना अधिकार और राज्य जमाया और फिर इन नवीन जातियों को, अर्थात् यूरप में जर्म्मन जाति को और भारतवर्ष में राजपूतों को, मुसल्मानों के बढ़ते हुए बल का सामना करना पड़ा, पर यूरप ने अपनी स्वतन्त्रता रक्षित रक्खी और भारतवर्ष ने उद्योग किया परन्तु उसका पतन हुआ ।

हम देख चुके हैं कि आठवीं शताब्दी के पहिले राजपूत लोग आर्य्य हिन्दू जाति में कठिनता से गिने जाते थे । हमें इस देश के ग्रन्थों में अथवा विदेशी जातियों की पुस्तकों में उनका न तो कहीं नाम मिलता है और न उनकी पूर्व सभ्यता का कोई पता चलता है । उनकी उत्पत्ति के विषय में अनुमान किए गए हैं । डाक्टर एच० एच० विल्सन साहेब का मत है कि वे लोग उन शक् लोगों तथा अन्य आक्रमण करने वालों की सन्तान हैं जिनके दल के दल भारतवर्ष में विक्रमादित्य के कई शताब्दी पहिले आये थे, जिन्हें विक्रमादित्य ने पराजित किया था परन्तु वे फिर भी फैल कर भारतवर्ष में और विशेषतः पश्चिम और दक्षिण में बस गए । पुराणों में भी इस बात के छिपे छिपे संकेत मिलते हैं कि राजपूत लोग भारतवर्ष में नए आकर बसने वाले थे । यथा उनमें लिखा है कि परिहार, प्रमार, चालुक्य और चौहान जातियों की उत्पत्ति चार योधाओं से हुई जिन्हें वशिष्ठ ऋषि ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ करके उत्पन्न किया था । और राजपूतों की ३६ जातियों की उत्पत्ति इन्हीं चार जातियों से कही गई है ।

चालुक्य लोग गुजरात में बसे, उन्हों ने अपनी नई

राजधानी पट्टन में स्थापित की और वल्लभी लोगों का अब तक जो प्रभुत्व था उसे छीन लिया। परिहार लोग मारवाड़ में बसे। प्रमार लोग पश्चिमी मालवा में और चौहान लोग पूरब की ओर दिल्ली और अजमेर में आए। राजपूतों की अन्य जातियां भी थीं जिनकी उत्पत्ति के विषय में अन्य कल्पनाएं की गई हैं। यथा मेवाड़ के गहलौत राना अपनी उत्पत्ति गुजरात के वल्लभी राजाओं के द्वारा राम से बतलाते हैं। इसके सिवाय यह दन्तकथा भी है कि मारवाड़ के राठौरों की उत्पत्ति हिरण्यकश्यप से हुई है।

राजपूतों की उत्पत्ति चाहे किसी से भी क्यों न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग हिन्दू सभ्यता और धर्म्म की मंडली के बीच के नए आए हुए लोग थे। और सब नए अन्य मतावलम्बियों की नाईं उनमें अपने ग्रहण किए हुए धर्म्म को पुनर्जीवित करने का अत्यन्त उत्साह भरा हुआ था। ब्राह्मण लोग इन्हीं नए क्षत्रियों के उत्साह पर कार्य्य करते थे और चौहानों और राठौरों ने ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित करने के कारण क्षत्रिय जाति में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त किया। दसवीं शताब्दी के अन्त तक पौराणिक धर्म्म सर्वत्र स्थापित होगया था और कन्नौज मथुरा तथा सैकड़ों अन्य नगर उन सुन्दर भवनों और मन्दिरों से सुशोभित होगए थे जिन्होंने कि ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गजनी के सुल्तान को आश्चर्य्यित किया था।

अध्याय ४।

बंगाल और उड़ीसा।

ऐतिहासिक काव्य काल में मगध और अंग के राज्य अर्थात् दक्षिणी और पूर्वी बिहार कठिनता से आर्य्यों की सीमा में समझे जाते थे। मगध दार्शनिक काल में एक हज़ार ई० पू० के उपरान्त पूर्णतया आर्य्यों का हो गया और उसने बल तथा सभ्यता में यहां तक उन्नति की कि वह गंगा की घाटी के अधिक प्राचीन राज्यों से बढ़ गया और उन्हें उसने अपने अधीन सी बना लिया। और उसी समय, सम्भवतः ईसा के पांचवीं शताब्दी में खास बंगाल और उड़ीसा ने मगध के बढ़े चढ़े राज्य से पहिले आर्य्यों की सभ्यता प्राप्त की।

ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में जब यूनानी लोग भारतवर्ष में आए तो उन्होंने बंगाल और उड़ीसा में जिसे कि वे कलिंग के नाम से पुकारते थे, प्रबल राज्य स्थापित देखे। ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में कलिंग को प्रतापी अशोक ने विजय किया जैसा कि हमें उसके शिलालेखों से विदित होता है और सम्भवतः इस विजय से उन प्रान्तों में बौद्ध धर्म के प्रचार होने में सफलता हुई और उससे बंगाल और उड़ीसा का उत्तरी भारतवर्ष की सभ्यता से अधिक सम्बन्ध स्थापित हुआ।

धीरे धीरे और अज्ञात रीति से बंगाल प्रधानता और सभ्यता में बढ़ा और बौद्ध काल के अन्त तक बंगाल

भारतवर्ष में एक माननीय राज्य होगया। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग गौड़ के निकट कर्णसुवर्ण के राजा शशांक (नरेन्द्र गुप्त) ने प्रतापी शीलादित्य के बड़े भाई को युद्ध में पराजित किया और मार डाला और जब सन् ६४० के लगभग ह्वेनत्सांग बंगाल में आया तो उसने पुन्द्र वा उत्तरी बंगाल, समतत वा पूर्वी बंगाल, कामरूप व आसाम और ताम्रलिप्त वा दक्षिणी बंगाल तथा कर्णसुवर्ण अथवा पश्चिमी बंगाल में सभ्य तथा प्रबल राज्य देखे। ये राज्य मोटे हिसाब से आज कल के राजशाही, ढाका, आसाम, बर्दवान, और प्रेसिडेंसी डिवीजनों में थे। ह्वेनत्सांग ने इन राज्यों का जो वर्णन लिखा है वह अन्यत्र दिया जा चुका है और यहां उनके पुनरुल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके उपरान्त हमें बंगाल का वृत्तान्त फिर नौवीं शताब्दी में विदित होता है।

आधुनिक समय में बहुत से ताम्रपत्र मिले हैं जिनसे विदित होता है कि मुसल्मानों की विजय के लगभग तीन शताब्दी पहिले तक बंगाल में पालवंश तथा सेनवंश के राजाओं का राज्य था। डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने इस विषय की बातों को सावधानी से संक्षेप में पाल और सेन वंशों पर अपने व्याख्यान में वर्णन किया है जो कि अब उनकी "इण्डो आर्यंस" नामक पुस्तक के दूसरे भाग में प्रकाशित हुआ है और हम उसी लेख से निम्न लिखित सूची उद्धृत करते हैं। डाक्टर मित्र ने प्रत्येक राज्य के लिये प्रायः बीस वर्ष का औसत समय नियत किया है—

पालवंशी राजा ।

(पश्चिमी और उत्तरी बंगाल में)

	ईस्वी
१ गोपाल	८५५
२ धर्म्मपाल	८७५
३ देवपाल	८९५
४ विग्रहपाल	९१५
५ नारायनपाल	९३५
६ राजपाल	९५५
७ — पाल	९७५
८ विग्रहपाल द्वितीय	९९५
९ महीपाल	१०१५
१० नयपाल	१०४०

(इन्हें सेनवंशी राजाओं ने बंगाल से निकाल दिया)

सेनवंशी राजा ।

(पूर्वी और समुद्र तट के बंगाल में)

	ईस्वी
१ वीरसेन	९८६
२ सामन्तसेन	१००६
३ हेमन्तसेन	१०२६
समस्त बंगाल में	
४ विजय उपनाम सुखसेन	१०४६
५ बल्लालसेन	१०६६
६ लक्ष्मणसेन	११०६
७ माधवसेन	११३६
८ केशवसेन	११३८
९ लाक्ष्मणेय उपनाम अशोकसेन	११४२
मुसलमानों की विजय ।	१२०४

पालवंशी राजाओं के विषय में इसके अतिरिक्त और वृत्तान्त विदित नहीं है कि वे बौद्ध थे परन्तु हिन्दुओं से द्वेष नहीं रखते थे, हिन्दू कर्मचारियों को रखते थे और हिन्दुओं को धर्म्मकार्यों के लिये भूमि देते थे। उनके अधिकार में पूर्वी बंगाल कभी नहीं आया वरन् उनका राज्य जैसा कि डाक्टर मित्र कहते हैं "भागीरथी के पश्चिम में निस्सन्देह बिहार की सीमा तक और सम्भवतः इसके भी आगे सम्पूर्ण मगध के प्राचीन राज्य को लिए हुए था। उत्तर की ओर

उसमें तिरहुत, मालदा, राजशाही, दीनाजपुर, रंगपुर और बागुरा सम्मिलित थे जो कि पुन्द्रवर्धन के प्राचीन राज्य में सम्मिलित थे। डेल्टा का मुख्य भाग उनके आधीन नहीं जान पड़ता"।

प्रथम राजा गोपाल के सम्बन्ध में नालन्द में एक छोटा सा शिलालेख मिला है जिससे प्रगट होता है कि इस बड़े राजा ने मगध को विजय किया था और इस बात को तारानाथ से पुष्टि होती है। तारानाथ लिखता है कि गोपाल ने "बंगाल में राज्य आरम्भ किया और इसके पीछे मगध को जीता"। जेनरल कनिंगहाम के अनुसार उसने अपना राज्य सन् ८१५ ई० में आरम्भ किया और यह तिथि डाक्टर मित्र की निश्चित की हुई तिथि से ४० वर्ष पूर्व है। गोपाल के उत्तराधिकारी धर्म्मपाल ने अपना राज्य बढ़ाया और उसने "बहुत से देशों के राजा" "प्रबल" की पुत्री कन्नदेवी से विवाह किया। धर्म्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल बड़ा विजयी हुआ। शिलालेखों से उसका कामरूप और उड़ीसा को विजय करना प्रगट होता है और तारानाथ कहता है कि उसने हिमालय से लेकर विन्ध्यपर्वत तक समस्त उत्तरी भारतवर्ष को अपने आधीन किया। एक खुदे हुए लेख में लिखा है कि देवपाल के सब युद्धों को उसका भाई जैपाल करता था जिसके पुत्र विग्रहपाल ने एक वा दो छोटे छोटे राजाओं के उपरान्त, जो कि डाक्टर मित्र की सूची में छोड़ दिए गए हैं, अन्त में राजगद्दी पाई। भागलपुर के ताम्रपत्र से हमें विदित होता है कि विग्रहपाल ने हैहय राज्यकुमारी लज्जा से विवाह किया और यह विश्वास किया जाता है कि हैहय लोग राजपूत थे। जान पड़ता है कि विग्रहपाल ने अन्त में अपने पुत्र से यह कह कर संसार त्याग

दिया कि "तपस्या मेरी है और राज्य तेरा।" अतएव उसका पुत्र नारायणपाल उत्तराधिकारी हुआ। और जिस समय गज़नी का महमूद सन् १०२७ ई० में कन्नौज के सामने आया उस समय उसका उत्तराधिकारी राज्यपाल बंगाल से लेकर कन्नौज तक समस्त उत्तरी भारतवर्ष का राज्य कर रहा था। डाक्टर मित्र ने राज्यपाल की जो तिथि दी है वह स्पष्ट गलत है।

राज्यपाल के उत्तराधिकारियों के विषय में महिपाल तक का कुछ वृत्तान्त विदित नहीं है। तारानाथ के अनुसार महिपाल ने ५२ वर्ष राज्य किया और इस कारण जनरल कनिंगहाम साहब उसका राज्य काल सन् १०२८ से १०८० तक निश्चित करते हैं। उड़ीसा का राजा इस प्रबल राजा के आधीन कहा गया है। इस राजा के उत्तराधिकारियों के समय में और ११ वीं शताब्दी में पूर्वी बंगाल के सेन राजाओं के अधिकार की वृद्धि हुई और उन्होंने उनसे मगध को छोड़ कर पूर्वी प्रान्तों को छीन लिया। मगध में पालवंशी राजा राज्य करते रहे यहां तक कि सन् ११७८ के थोड़े ही दिन पीछे, जो कि इस वंश के राजाओं के सबसे अन्तिम शिलालेख की तिथि है इस वंश की अचांचक समाप्ति हुई।

सेन राजाओं के विषय में डाक्टर राजेन्द्रलाल का विश्वास है कि पहिला राजा बीरसेन वही प्रसिद्ध आदिसूर था जिसके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वह बङ्गाल में विद्वानों का अभाव होने के कारण कन्नौज से पांच ब्राह्मणों और पांच कायस्थों को लाया था। परन्तु जेनरल कनिंगहाम साहब का मत है कि बीरसेन पीछे के समय में सेनवंशी राजाओं के बहुत पहिले का पूर्व पुरुष है, और उसका राज्य

सातवीं शताब्दी में था, यह बात असम्भव नहीं है यदि हम इस बात पर विचार करें कि जिन १० ब्राह्मणों और कायस्थों को आदिसूर लाया था उनकी सन्तान ११ वीं शताब्दी तक इतनी अधिक नहीं हो सकती थी कि बल्लाल को उनका एक भिन्न जाति की भाँति वर्णन करना पड़ता। जेनरल कनिंगहाम साहेब सामन्तसेन से लेकर लाक्षणीय के राज्य तक का समय ९७५ से ११९८ ईस्वी तक निश्चित करते हैं।

सामन्त और उसके पुत्र हेमन्त के विषय में बहुत वृत्तान्त विदित नहीं है। इसके उपरान्त विजयराजा हुआ और उसका पुत्र प्रसिद्ध बल्लालसेन था।

कहा जाता है कि जो ब्राह्मण और कायस्थ कन्नौज से लाए गए थे वे इस समय तक बहुत बढ़ गये थे और बल्लाल ने अपने देश के ब्राह्मणों और कायस्थों से कन्नौज से लाए हुए ब्राह्मणों और कायस्थों की सन्तान के विवाह होने का निषेध किया। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने कुलीनों के साथ विवाह करनेवालों की स्थिति बढ़ाने के लिये बहुत से पेचीले नियम भी बनाये परन्तु यह सम्भव है कि भिन्न भिन्न जाति के ब्राह्मणों और कायस्थों में जो भेद और नियम उत्पन्न हो गए थे उन्हीं के लिये बल्लाल ने केवल अपनी अनुमति दी हो।

बल्लाल का उत्तराधिकारी लक्ष्मणसेन हुआ। उसका मंत्री हलायुध था जो कि "ब्राह्मण सर्वस्व" का ग्रन्थकार है। मुसल्मान इतिहासज्ञ लोग कहते हैं कि इस राजा ने गौड़ के नगर को बहुत सुशोभित कर दिया था।

उसके उत्तराधिकारी क्रमात् उसके दोनों पुत्र माधवसेन और केशवसेन हुए। उसके उपरान्त लाक्षमणेय हुआ जिसके

राज्य में बङ्गाल को बख्तियार खिलजी ने सन् १२०४ ई० वा कुछ लोगों के अनुसार ११९८ ई० के लगभग जीता।

जान पड़ता है कि सेन वंश की राजधानी ढाके के निकट विक्रमपुर में थी जहाँ कि बल्लाल के राज्यभवन का कल्पित खण्डहर अब तक यात्रियों को दिखलाया जाता है। सेन लोग हिन्दू थे जैसा कि पाल लोग बौद्ध थे और एक वंश का धीरे धीरे दूसरे वंश से अधिकार छीनने से वास्तव में बौद्ध धर्म का पतन और बङ्गाल के लोगों का आधुनिक हिन्दू धर्म ग्रहण करना विदित होता है। वंशों के उदय अथवा अस्त होने के कारण जैसे ऊपर से देख पड़ते हैं उनकी अपेक्षा बहुधा बहुत गूढ़ हैं और भारतवर्ष में आठवीं और नवीं शताब्दियों में नये वंशों के उदय होने का घनिष्ट सम्बन्ध टूटे हुए बौद्ध धर्म के ऊपर पौराणिक हिन्दू धर्म की वृद्धि से है।

बङ्गाल के पाल और सेनवंशी राजा लोग किस जाति के थे यह आज कल एक विवाद का विषय रहा है और इस विवाद में डाक्टर राजेन्द्रलाल और जनरल कनिंगहम के समान विद्वान् लोग सम्मिलित हुए हैं। हमारे लिये इस विवाद में प्रवृत्त होना आवश्यक नहीं है। हम केवल उन विचारों को लिखेंगे जो कि हमें सब से अधिक ठीक जँचते हैं।

पालवंशी राजा लोग बंगाल में उसी समय राज्य करते थे जिस समय कि पश्चिमी भारतवर्ष में जैपाल और अनङ्गपाल का राज्य था और वे लोग सुबुक्तगीन और सुलतान महमूद को रोकने का यत्न कर रहे थे। यह विचार कोई असम्भव नहीं है कि बङ्गाल के पाल लोग उसी राजपूत जाति की एक शाखा थे जिसने कि नवीं और दसवीं शताब्दियों में सारे भारतवर्ष में नये राज्य स्थापित किये थे। वे लोग निस्सन्देह क्षत्रिय थे

परन्तु केवल इसी अर्थ में कि वे राजाओं और योधाओं की जाति के थे। जब तक हिन्दू लोगों की एक जीवित जाति थी तब तक बहुधा क्षत्रिय की पदवी उन वीर वंशों को दी जाती थी जिनका कि साधारण लोगों में से उदय होता था और राजपूत राजाओं ने तथा मरहठा सर्दार शिवाजी ने भी क्षत्रिय की पदवी ग्रहण की थी।

बंगाल के सेन लोग आज कल वैद्य हैं अर्थात् वे औषधि करने वाली जाति के हैं और इस कारण उनका यह अनुमान है कि बंगाल के प्राचीन सेन राजा भी इसी जाति के थे। परन्तु इस कल्पना के पहिले तो यह दिखलाना चाहिये कि पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष में पहिले वैद्यों की एक जुदी जाति थी, जिससे कि बंगाल के सेनवंशी राजाओं की उत्पत्ति होना सम्भव हो सकता है। हम अन्यत्र दिखला चुके हैं और फिर दिखलावेंगे कि मनु के समय में और उसके कई शताब्दियों पीछे तक न तो कायस्थों और न वैद्यों की कोई जुदी जाति थी। लेखक तथा औषधि का व्यवसाय करने वाले लोग उस समय तक भी आर्यों की बड़ी क्षत्रिय और वैश्य जातियों में सम्मिलित थे, और उनकी भिन्न भिन्न जाति केवल आज कल के समय में हुई है। तब हम यह कैसे विचार कर सकते हैं कि सेन राजा लोग जाति के वैद्य थे?

आज कल भी बङ्गाल के बाहर किसी प्रान्त में वैद्यों की जुदी जाति नहीं है। अतएव हम इस कथन से क्या समझ सकते हैं कि सेन राजा लोग जो कि बंगाल में पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष से आए थे जाति के वैद्य थे।

सच्ची बात तो यह है कि बङ्गाल के सेनवंशी राजा पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष के किसी राज्यवंश, सम्भवतः सौराष्ट्र

५

के वल्लभी सेनवंश वा दक्षिणी भारतवर्ष के किसी सेनवंश की सन्तान थे। चाहे जो कुछ हो पर इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि बङ्गाल के राज्यवंश का संस्थापक किसी वीरवंश वल्लभी वा राजपूत वा वैश्य से उत्पन्न हुआ और उसने एक राज्य स्थापित करने के कारण क्षत्रिय की पदवी को यथार्थ रूप से ग्रहण किया।

पूर्वी बङ्गाल के सेन वैद्य लोगों का बल्लालसेन तथा उसके उत्तराधिकारियों से सम्बन्ध जोड़ने के ठीक और काफी प्रमाण हो सकते हैं परन्तु यह कहने के पलटे में कि प्राचीन राजा लोग वैद्य थे और बङ्गाल में खलबट्टा, मलहम और जड़ी लेकर आये थे, यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक ठीक होगा कि प्राचीन सेन वंश के वैश्य वा क्षत्रिय राजाओं की सन्तान अब बङ्गाल की आधुनिक वैद्य वा औषधि करने वाली जाति हो गई है।

हम लोगों के लिये बङ्गाल के लोगों की जाति निश्चित करना बहुत आवश्यक है। बङ्गाल में आर्य्य लोग सदा से बहुत कम रहे हैं और आज तक भी ऐसा ही है। ब्राह्मण लोग आर्य्य वंशज हैं, परन्तु वर्ण ब्राह्मणों को छोड़ कर जो कि उसी जाति के हैं जिनका वे कर्म करते हैं। कायस्थ लोग भी आर्य्य वंशज हैं परन्तु उन नीच और खेती करने वाली जातियों (भण्डारियों इत्यादि) को छोड़ कर जो कि अपने को कायस्थ कहते हैं पर साधारणतः शूद्र समझे जाते हैं। वैद्य लोगों की जाति बहुत छोटी है और सम्भवतः वे शुद्ध आर्य्य वंश के अर्थात् प्राचीन वैश्यों की सन्तान हैं। वाणिज्य करनेवाली जातियों में सुवर्ण वणिक तथा कुछ अन्य जातियां न्यून वा अधिक आर्य्य वंश की हैं। कुम्हार,

तांती, लुहार, सोनार, तथा अन्य शिल्पकार कुछ अंश में आर्य्यवंशज हैं और उनकी उत्पत्ति प्राचीन वैश्य जाति से हुई है और वे भिन्न भिन्न व्यवसाय करने के कारण आधुनिक समय में भिन्न भिन्न जाति के हो गए हैं। इसके साथ ही इन आर्य्य जातियों में आदि वासियों के खून का अधिक सम्मेल है। जो आदि वासी लोग विजयी आर्य्यों के सिखाए हुए व्यवसाय को करने लगे वे अन्त में उन्हीं लोगों के व्यवसाय की जाति में सम्मिलित हो गए। इनके सिवाय खेती चराई, अहेर करने वाली तथा मछली मारने वाली बड़ी जातियां, कैवर्त्त, चाण्डाल, और लाखों खेती करनेवाले मुसल्मान निस्सन्देह इस देश के अनार्य्य आदि वासियों की सन्तान हैं। इनके भी सिवाय बागदी, बौरी, डोम हरी इत्यादि वे आदि वासी हैं जो कि अब तक पूरी तरह से हिन्दू नहीं बनाए गए हैं।

अब हम उड़ीसा के इतिहास की ओर झुकेंगे। बङ्गाल की नांई उड़ीसा में भी सम्भवतः आर्य्य लोग पहिले पहल दार्शनिक काल में आकर बसे थे परन्तु उड़ीसा में, चट्टानों में कटी हुई गुफाओं और भवनों में, वहां के प्राचीन आर्य्य वासियों के स्मारक अब तक वर्त्तमान हैं जो कि बङ्गाल में नहीं हैं। इस भूमि में बौद्ध उपदेशक लोग अपने धर्म्म का प्रचार करने के लिये और गुफाओं में शान्ति और कठिन ध्यान के साथ अपना जीवन व्यतीत करने के लिये आए और इनमें से कुछ गुफाएं अशोक के समय से पहिले की हैं। कटक और पुरी के बीचो बीच जंगलों में दो बलुए पत्थरों की पहाड़ियां एकाएक उठी हुई हैं और इन पहाड़ियों की चोटियों पर तथा उनके चारों ओर अनेक कोठरियां गुफाएं और इमारतें हैं। इनमें से सबसे प्राचीन गुफाओं में केवल

एक एक कोठरी है जो कि ऐसे मनुष्यों को छोड़ कर और किसी के रहने के योग्य नहीं हैं जिन्होंने कठिन एकान्त में अपना जीवन बिताने का निश्चय कर लिया था। कुछ समय बीतने पर इससे बड़ी गुफा खोदी जाने लगीं। उनमें पत्थर की नकाशी के काम भी होने लगे और सबसे अन्तिम समय की बनी हुई गुफाएं तो बड़े उत्तम भवन हैं जो कि बहुत से सन्यासियों के तथा राजाओं और रानियों के भी रहने योग्य हैं। इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि अशोक के कलिंग विजय करने पर ये उत्तम बौद्ध गुफाएं बनाई गईं, और हम यह भी देख चुके हैं कि उड़ीसा में अशोक के कुछ शिलालेख भी मिले हैं।

बौद्ध काल का उड़ीसा का इतिहास हमें बहुत ही कम विदित है। इस देश के इतिहास की खोज पहिले पहिल स्टर्लिङ्ग साहेब ने की थी और उन्हें जो बातें विदित हुईं वे "एशियाटिक रिसर्चेज़" के १५ वें भाग में प्रकाशित हुई हैं। उस समय से सर विलियम हण्टर और डाक्टर राजेन्द्र लाल का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है।

यह देखने में आवेगा कि सब से अन्तिम बौद्ध राजा लोग यमन कहे जाते थे परन्तु यह बात विदित नहीं है कि बेक्ट्रिया के यूनानियों से उनकी उत्पत्ति होने के कारण से वे यमन कहलाते थे अथवा केवल बौद्ध होने के कारण। ययाति केशरी ने यवनों को सन् ४७४ ई० में निकाल दिया और केशरी वंश को स्थापित किया तथा पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार किया। केशरी वंश ने लगभग ७ शताब्दियां तक राज्य किया और उड़ीसा का प्रमाणिक इतिहास इसी वंश से प्रारम्भ होता है, निम्नलिखित वंशक्रम की सूची जो

कि डाक्टर हण्टर साहब से ली गई है हमारे पाठकों को मनोरञ्जक होगी—

		सन्			
ययाति केशरी		४७६	मधुसूदन	,,	६०४
सूर्य्य	,,	५२६	धर्म	,,	६२०
अनन्त	,,	५८३	जन	,,	६४१
अलबु	,,	६२३	नृप	,,	६४१
कनक	,,	६७७	मकर	,,	६५३
वीर	,,	६९३	त्रिपुर	,,	६६१
पद्म	,,	७०१	माधव	,,	६७१
पुद्म	,,	७०६	गोविंद	,,	६८६
बट	,,	७१५	नरसिंह	,,	१०१३
गज	,,	७२६	नृत्य	,,	९९९
बसन्त	,,	७३८	कूर्म	,,	१०२४
गन्धर्व	,,	७४०	मत्स्य	,,	१०३४
जनमेजय	,,	७५४	बराह	,,	१०५०
भरत	,,	७६३	वामन	,,	१०६५
कलि	,,	७७८	परशु	,,	१०७८
कमल	,,	७९२	चन्द्र	,,	१०८०
कुण्डल	,,	८११	सुजन	,,	१०९२
चन्द्र	,,	८२९	सालिनि	,,	१०९९
वीरचन्द्र	,,	८४६	पुरञ्जन	,,	११०४
अमृत	,,	८६५	विष्णु	,,	११०७
विजय	,,	८७५	इन्द्र	,,	१११९
चन्द्रपाल	,,	८९०	सुवर्ण	,,	११२३-११३२

[केशरी वंश की समाप्ति]

केशरी राजाओं की राजधानी भुवनेश्वर में थी जिसे कि उन्होंने बहुत से मन्दिरों और इमारतों से सुशोभित किया था जिनके शेषभाग भारतवर्ष में हिन्दुओं की गृहनिर्म्माण विद्या के सब से उत्तम नमूने हैं। सारा स्थान ऐसी इमारतों से भरा हुआ है और केशरी वंश की वृद्धि के समय यह नगर मन्दिरों और सुन्दर इमारतों के लिये बड़ा सुन्दर रहा होगा।

कहा जाता है कि पहिले राजा ययाति ने इस राजधानी को स्थापित किया था और उसके नाम से विदित होता है कि उस समय शिव वा भुवनेश्वर उड़ीसा के हिन्दुओं का सब से प्रसिद्ध देवता था। जात्रपुर ययाति की दूसरी राजधानी थी और वहां जो बड़ी मूर्तियां मिली हैं उनसे इस राज्यवंश की प्रबलता और महत्व तथा शिव और उसकी पत्नी में उनकी भक्ति प्रगट होती है। नृप केशरी जिसने कि सन् ९४१ से ९५३ तक राज्य किया कटक के नगर को स्थापित करने वाला कहा जाता है।

केशरी वंश के उपरान्त एक नया वंश अर्थात् गंग वंश हुआ।

इस वंश की उत्पत्ति का अब तक पता नहीं लगा है परन्तु इस वंश के नाम तथा उसके सम्बन्ध की दन्त कथाओं से उनका बंगाल से सम्बन्ध प्रगट होता है और यह सम्भव है कि वे प्राचीन ताम्रलिपि वा तुमलूक के निकट से आए हों। इस वंश के उदय के साथ धर्म्म का भी परिवर्तन हुआ और जिस भांति केशरी वंश ने बौद्ध धर्म्म को दबाकर शिवपूजन का प्रचार किया था उसी भांति गंग वंश ने

शिवपूजन को उठाकर विष्णु पूजन का प्रचार किया। परन्तु फिर भी इनमें से किसी धर्म्म का भी उड़ीसा से पूर्णतया लोप नहीं हो गया था, वरन् इसके विरुद्ध तीनों धर्म्म साथ ही साथ प्रचलित थे और समय पाकर घट बढ़ जाते थे। विष्णु पूजन आधुनिक रूप में आजकल का प्रचलित धर्म्म है।

हम डाक्टर हण्टर साहेब के ग्रंथ से गंग वंश की निम्न लिखित सूची देते हैं—

	ई०		
चोर गंग	११३२	संख वसुदेव	१३३७
गंगेश्वर	११५२	बलि वसुदेव	१३६१
एकजतकमदेव	११६६	धीर वसुदेव	१३८२
मदनमहादेव	११७१	कलि ,,	१४०१
अनंग भीम ,,	११७५	नेउंगतंत ,,	१४१४
राजराजेश्वर ,,	१२०२	नेत्र ,,	१४२९
लांगुड़नरसिंह	१२३७	कपिलेन्द्र देव	१४५२
केशरी ,,	१२८२	पुरुषोत्तम ,,	१४७९
प्रताप ,,	१३०७	प्रताप रुद्र ,,	१५०४
धरिकरथ ,,	१३२७	कलिंग ,,	१५३२
कपिल ,,	१३२९	कलहरूग ,,	१५३३ १५३४
शंख भसुर	१३३०		

[गंग वंश की समाप्ति]

इस वंश के पहिले कुछ राजा अपने समय में बड़े प्रतापी हुए। गंगेश्वर (११५२-११६६) ने गंगा से लेकर गोदावरी तक राज्य किया और अनंगभीमदेव (११७५-१२०२) जो कि एक बड़ा प्रबल राजा था आधुनिक जगन्नाथ के मन्दिर का बनवाने वाला कहा जाता है। इसके उपरान्त कहा

जाता है कि पुरुषोत्तम देव (१४७६-१५०४) ने दक्षिणी भारत-वर्ष में कांची के राजा को पराजित किया और उसकी पुत्री से विवाह किया और जिस समय वैष्णव धर्म का प्रचारक चैतन्य उड़ीसा में आया उस समय उसके उत्तराधिकारी प्रतापरुद्र देव का राज्य था ।

गंगवंश के अन्तिम राजा को गोविन्द विद्याधर ने मार कर राज्य ले लिया परन्तु उसके राज्य काल (१५३४—१५४१) में मुसल्मानों से युद्ध आरम्भ हुआ । इसके उपरान्त ४ राजा गद्दी पर बैठे अर्थात् चक्रप्रताप (१५४१ १५४८) नरसिंहजन (१५४८-१५५०) रघुराम चोत्र (१५५०-१५५१) और मकुन्ददेव (१५५१-१५५८) । इसी अन्तिम राजा के राज्य में प्रसिद्ध मुसल्मान सेनापति कलपहर ने इस प्रान्त में आक्रमण किया, जाजपुर के निकट के युद्ध में राजा को हराया और मार डाला, जगन्नाथ के नगर को लूटा और हिन्दू राज्य का नाश कर दिया ।

इस भांति उत्तरी भारतवर्ष और बंगाल के विजय के लगभग ४ शताब्दी पीछे तक उड़ीसा ने अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखी थी और लगभग १५६० ईस्वी में उसे मुसल्मानों ने जीता ।

५ अध्याय।

कश्मीर और दक्षिणी भारतवर्ष।

हम पहिले किसी अध्याय में प्रतापी विक्रमादित्य के समकालीन मातृगुप्त के समय तक कश्मीर का इतिहास लिख चुके हैं अब हम मातृगुप्त के उत्तराधिकारियों के नाम बारहवीं शताब्दी के बीच तक देते हैं जब कि कल्हण के इतिहास की समाप्ति होती है। कल्हण के उपरान्त का इतिहास अन्य ग्रंथकारों ने लिखा है।

हमें केवल इतना कह देना है कि दुर्लभवर्द्धन के समय से (जो कि मातृगुप्त के उपरान्त सातवां राजा था) कल्हण की दी हुई तिथियां पूर्णतया विश्वास योग्य हैं। कल्हण के अनुसार दुर्लभवर्द्धन का राज्य सन् ५९८ में आरम्भ हुआ। मातृगुप्त और दुर्लभवर्द्धन के बीच ६ राजाओं ने राज्य किया और यदि हम इनमें से प्रत्येक राजा के लिये १५ वर्ष का औसत समय दें तो मातृगुप्त का राज्य छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में निश्चित होता है।

परन्तु कल्हण को शक संवत ने भ्रम में डाल दिया था और उसने विक्रमादित्य और मातृगुप्त का राज्य इस संवत के आरम्भ में समझा। अतएव उसे इन छओ राज्यों को (मातृगुप्त से लेकर दुर्लभ वर्द्धन तक) पांच शताब्दियों में बांटना पड़ा और इसके लिये उसने एक राज्य अर्थात् रणादित्य के राज्य का समय ३०० वर्ष रक्खा है। इसी कारण दुर्लभवर्द्धन के समय के पहिले जो तिथियां कल्हण ने दी हैं वे ठीक नहीं हैं।

मातृगुप्त ने राज्य त्याग ५० ई० में किया			अवन्ति वर्म्मन	,,	८५५
			शंकर	,,	८८३
प्रवरसेन, युधिष्ठिर, नरेन्द्रादित्य, राणादित्य, विक्रमादित्य, बालादित्य		५५०-५९८	गोपाल	,,	९०२
			संकट	,,	९०४
			सुगन्धा	,,	९०४
			पार्थ	,,	९०६
			निर्जित	,,	९२१
			चक्र वर्म्मन	,,	९२२
दुर्लभ वर्द्धन (कल्हँण की तिथि)		५९८	सुर ,,	,,	९३३
			पार्थ (दूसरी बार)		९३४
दुर्लभक	,,	६३४	चक्र वर्म्मन (दूसरी और तीसरी बार)	,,	९३५
चन्द्रापीर	,,	६८४			
तारा ,,	,,	६९३	त्रिभुवन ,,	,,	९७३
ललितादित्य	,,	७६९	भीम गुप्त	,,	९७५
कुवलयापीर	,,	७३३	उन्मत्तावन्ति	,,	९३७
वज्रादित्य	,,	७३४	सुर वर्म्मा	,,	९३९
पृथिव्यापीर	,,	७४१	यशस्कर	,,	९३९
संग्राम ,,	,,	७४५	वर्नट	,,	९४८
जया ,,	,,	७४५	संग्राम	,,	९४८
ललिता ,,	,,	७७६	पर्व गुप्त	,,	९४८
संग्राम ,,	,,	७८८	क्षेम गुप्त	,,	९०५
चिप्पट जया,,	,,	७९५	अभिमन्यु	,,	९५८
अजिता ,,	,,	८१३	नन्दिगुप्त	,,	९७२
अनंग ,,	,,	८४९	दिद्दा	,,	९८०
उत्पला पीर (कलहण की तिथि)		८५२	संग्राम	,,	१००३
			हरिराज	,,	१०२८

अनन्तदेव,,	१०२८	सुस्सल	,,	११११२
रणादित्य,,	१०६३	भिक्षाचर	,,	११२०
उत्कर्ष ,,	१०८९	सस्सल	,,	११२१
हर्ष ,,	१०८९	सेन्ह देव	,,	११२७
उच्चल ,,	११०१	कल्हण का इतिहास इस		
राड्ड ,,	११११	राजा के राज्य के बाइसवें		
सल्हण ,,	११११	वर्ष में समाप्त होता है।		

कल्हण और उसके अनुवादक को धन्यवाद है कि उनसे पाठकों को कश्मीर के इतिहास की कुछ मनोरंजक बातें विदित होती हैं। मातृगुप्त की कथा इतिहास में सबसे मनोरंजक है। कहा जाता है कि वह प्रतापी विक्रमादित्य की सभा का कवि था और इस सम्राट् ने उसकी योग्यता के पुरस्कार की भांति उसे कश्मीर का राज्य दिया। हम नहीं जानते कि इस कवि ने किस भांति राज्य का प्रबन्ध किया परन्तु जब उसने अपने संरक्षक की मृत्यु का समाचार सुना तो उसने शोक के कारण संसार त्याग दिया और वह सन्यासी होकर बनारस चला गया।

पहिले राजा का भतीजा प्रवरसेन मातृगुप्त का उत्तराधिकारी हुआ और इस कवि ने प्रस्थान करने के पहिले एक अद्भुत पुल की छन्द में प्रशंसा की है जिसे कि नए राजा ने विरष्टा नदी पर बनाया था। प्रवरसेन बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने अपना राज्य सौराष्ट्र तक बढ़ाया और कहा जाता है कि उसने विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी प्रथम शीलादित्य को पराजित किया और उज्जयिनी से वह सिंहासन ले आया जिसे कि विक्रमादित्य ने विजय चिन्ह की भांति पाया था। यहां पर हमें हेनत्सांग के इस कथन का प्रमाण

मिलता है कि प्रथम शीलादित्य प्रतापी विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी हुआ।

इसके उपरान्त का बड़ा राजा प्रसिद्ध ललितादित्य हुआ जिसका ३० वर्ष का बड़ा राज्य सन् ६९७ से प्रारम्भ होता है। उसने अपना राज्य बहुत दूर दूर तक फैलाया और कन्नौज के राजा यशोवर्मन को पराजित किया और वहां से भवभूति इस राजा के साथ आया जो कि कालिदास के उपरान्त भारतवर्ष का सब से प्रसिद्ध नाटककार है। ललितादित्य तब पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ा और कहा जाता है कि उसने कलिंग गौड़ और कर्नाट को भी पराजित किया और तब "एक द्वीप से दूसरे द्वीप में होते हुए समुद्र को पार किया" हम नहीं जानते कि यह कहां तक सत्य है और इसमें कहां तक कवि की अत्युक्ति है। वह विन्ध्या को पार कर अवन्ति में होता हुआ अपने देश को लौटा। उसने बहुत सी इमारतें बनवाईं और कहा जाता है कि अज्ञात उत्तर को विजय करने के निमित्त हिमालय को पार करने के यत्न में उसने अपना जीवन खोया।

ललितादित्य केवल भवभूति कवि का ही नहीं वरन सिंधु के जीतने वाले मुहम्मद कासिम का भी समकालीन था। कहा जाता है कि ललितादित्य ने तुरक्कों को तथा सिंध के छली राजा को पराजित किया था। यह कदाचित कासिम का उत्तराधिकारी होगा जिसके अधीन सन् ७५० ई० तक सिंध रहा।

वज्रादित्य की जिसने ७३४ से ७४१ ई० तक राज्य किया बहुत सी स्त्रियां थीं। उसने बहुत से लोगों को म्लेच्छों के हाथ बेंच डाला और उनकी बुरी रीतियों का प्रचार किया।

प्रतापी जयापीर ने सन् ७४५ से ७७६ ई० तक ३१ वर्ष राज्य किया और पाणिनि पर पातञ्जलि के महाभाष्य को संगृहीत करने के लिये विद्वानों को नियत किया। यह भी कहा जाता है कि वह पौन्द्रवर्द्धन में गया जो कि गौड़ के जयन्त राजा के आधीन था और उसने जयन्त की पुत्री कल्याणा देवी से विवाह किया। एक चञ्चल विजयी होने के कारण उसने नेपाल में भी प्रवेश किया परन्तु वहां हराया और कैदकर लिया गया पर फिर भाग आया। जयापीर अपने कायस्थ मंत्रियों और कोषाध्यक्षों पर विश्वास करता था और एक ब्राह्मण इतिहासकार लिखता है कि ब्राह्मण के शाप से उसकी मृत्यु हुई।

अवन्तिवर्म्मन् ने सन् ८५५ ई० में एक नए वंश को स्थापित किया और सन् ८८३ तक राज्य किया। उसके राज्य में बड़ी बड़ी बाढ़ों ने बड़ी हानि पहुँचाई और कहा जाता है कि सुय्यु नामक एक देशहितैषी ने वितष्टा नदी के जल के लिये मार्ग साफ किया और अधिक जल को निकालने के लिये नहरें भी खुदवाईं। सिंधु बांई ओर और वितष्टा दहनी ओर बहती थी। वे दोनों वैन्यस्वामिन पर मिलाईं गईं और इस प्रकार नदियों का मार्ग बदलने पर उसने महापद्म झील से पानी के रक्षा के लिये एक बड़ी बांध बंधवाई और इस झील को भी वितष्टा में मिलाया।

अवन्ति वर्म्मन् पहिला वैष्णव राजा देखने में आता है उसका उत्तराधिकारी शङ्करवर्म्मन् बड़ा विजयी हुआ और उसने अपना राज्य गुजरात तक बढ़ाया परन्तु कायस्थ कोषाध्यक्षों पर विश्वास करने के कारण वह अपने देश के ब्राह्मणों का घृणापात्र बन गया। सन् ६०२ ईस्वी में

सुरेन्द्रवती और उसकी अन्य दो रानियां उसके साथ चिता में सती हो गईं।

उसकी एक दुराचारी रानी सुगन्धा ने तांत्रियों और एकाङ्गों की सहायता से जो कि सम्भवतः दो पन्थ के लोग थे, सन् ९०४ से ९०६ ई० तक दो वर्ष राज्य किया। परन्तु वह शीघ्रही राज्यसिंहासन से उतारी गई और तांत्री लोग पारितोषिक और आदर पाने के अनुसार एक के उपरान्त दूसरे राजा को सिंहासन पर बैठाते रहे। इसके उपरान्त हमें लगातार अयोग्य और दुराचारी राजाओं की नामावली मिलती है जिनमें से क्षेमगुप्त (९५०–९५८) सबसे अधिक निर्लज्ज और दुराचारी हुआ। उसका पुत्र अभिमन्यु निष्कलंक राजा था और उसने १४ वर्ष तक राज्य किया। इसके उपरान्त उसकी माता दिद्दा (क्षेमगुप्त की विधवा) ने तीन बालक राजाओं को मारकर २३ वर्ष तक (९८० से १००३) तक राज्य किया। जिस समय कश्मीर के राज्य को ये दुश्य कलंकित कर रहे थे उस समय एक बड़ा शत्रु निकट था। महमूद ग़ज़नी ने दिद्दा का राज्य समाप्त होने के पहिले अपना आक्रमण आरम्भ कर दिया था।

उसके उत्तराधिकारी क्षेमपति ने तुरुष्क आक्रमण करने वाले हम्मीर (महमूद) के विरुद्ध शाहराजा को सहायता भेजी। परन्तु वह व्यर्थ हुई। इस भयानक आक्रमण करने वाले ने काश्मीरियों और राजपूतों की सेना को पराजित किया और "शाहिराज्य" को अपने राज्य में मिला लिया। इसके उपरान्त एक दूसरी सेना भेजी गई परन्तु विजयी मुसलमानों के सामने सेना अपने देश की ओर भागी।

अनन्त ने ३५ वर्ष राज्य करने के उपरान्त अपने पुत्र रणादित्य को राज्य दे दिया जो कि दुराचारी प्रकृति का था। उसने भी २६ वर्ष तक राज्य किया और सन् १०८९ में मरा। उसका पुत्र उत्कर्ष उसका उत्तराधिकारी हुआ परन्तु उसके योग्य भ्राता हर्ष ने उसे शीघ्र ही राज्य सिंहासन से उतार दिया। इसके राज्य में देश में बहुत से युद्ध हुए और अन्त में राजा की हार हुई। वह सन्यासी हो गया परन्तु पता लगवाकर मार डाला गया।

कश्मीर की एकान्त स्थिति ने राज्य के कई शताब्दियों के उपरान्त तक अपनी स्वतन्त्रता स्थिर रखी परन्तु उसके इतिहास में पाठकों के लिये कोई बड़ी मनोरञ्जक घटना नहीं हुई, अन्त में इस राज्य को मुसल्मान आक्रमण करने वालों ने जीत लिया और अकबर ने उसे अपने राज्य में मिला लिया।

अब हम दक्षिणी भारतवर्ष के इतिहास के ओर झुकेंगे।

हम देख चुके हैं कि दार्शनिक काल में ईसा के पहिले दसवीं शताब्दी के उपरान्त दक्षिणी भारतवर्ष को आर्यों ने हिन्दू बनाया। इसी काल में दक्षिण में अन्ध्र का बड़ा राज्य स्थापित हुआ और वहां विद्या और स्मृति के भी कुछ सूत्र सम्प्रदाय स्थापित हुए। सन् ईस्वी के उपरान्त अन्ध्र लोगों ने मगध और उत्तरी भारतवर्ष तक अपना राज्य बढ़ाया और कई शताब्दियों तक वे भारतवर्ष में सर्व प्रधान रहे। अन्ध्रों और गुप्तों के पतन के उपरान्त वल्लभी लोग गुजरात और पश्चिमी भारतवर्ष के स्वामी हुए और उनके उत्तराधिकारी राजपूत लोग हुए।

इस बीच में जब कि वल्लभी लोगों का गुजरात में उदय हुआ था तो दक्षिण में चालुक्यों की एक राजपूत जाति बड़ी

प्रबल हुई और नर्बदा और कृष्णा के बीच का समस्त देश उसके आधीन रहा। दक्षिण में चालुक्यों का राज्य पांचवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ और २० वीं शताब्दी के अन्त तक अर्थात् उस समय तक रहा जब कि उत्तरी भारतवर्ष को मुसल्मानों ने विजय किया था। चालुक्यों की पश्चिमी शाखा कोकन और महाराष्ट्र देश पर राज्य करती थी और उनकी राजधानी कल्याण में थी। इसी जाति की पूर्वी शाखा पूर्वी दक्षिण में राज्य करती थी और उसकी राजधानी गोदावरी नदी के मोहाने के निकट राजमन्द्री में थी। सर वाल्टर ईलियट साहब ने सन् १८५८ ई० में इन दोनों राज्यवंशों के राजाओं की सूची प्रकाशित की थी और तब से अन्य ग्रन्थकारों ने इन सूचियों की नकल की है।

चालुक्य वंश।

पश्चिमी शाखा। राजधानी-कल्याण।

१ जयसिंह विजयादित्य प्रथम	४७० ई०	८ अमर	
२ राजसिंह विष्णुवर्द्धन		९ आदित्य	
३ विजयादित्य द्वितीय		१० विक्रमादित्य प्रथम	
४ पुलकेशिन प्रथम		११ बिनयादित्य	
५ कृत्तिवर्म्म प्रथम		१२ विजयादित्य तृतीय	
६ मंगलीश		१३ विक्रमादित्य द्वितीय	
७ सत्याश्रय पुलकेशिन द्वितीय (शिलादित्य द्वितीय और ह्वेनत्सांग का सम कालीन)	६०९	१४ कृत्तिवर्म्म द्वितीय	
		१५ कृत्तिवर्म्म तृतीय	७०९
		१६ तैलप प्रथम	
		१७ भीमराज	
		१८ कृत्तिवर्म्म चतुर्थ	

१९ विजया दित्य चतुर्थ
२० विक्रमादित्य तृतीय वा त्रैलय द्वितीय (इसने रक्त पुत्र से राज्य छीने जाने उपरान्त उसे प्राप्त किया) ९७७
२१ सत्याश्रय द्वितीय
२२ विक्रमादित्य चतुर्थ
२३ जहसिंह
२४ सोमेश्वर प्रथम
२५ सोमेश्वर द्वितीय
२६ विक्रमादित्य पंचम
२७ सोमेश्वर तृतीय ११२७
२८ जगदेव ११३८
२९ तैलक तृतीय ११५०
३० सोमेश्वर चतुर्थ (इन्हें कलचुर्य्य वंश के विज्जल ने राजगद्दी से उतार दिया और राज्य का दक्षिणी भाग मैसूर के बल्लाल वंश के अधीन हुआ) ११८२

पूर्वी शाखा। राजधानी राजमन्द्री।

ई०
१ विष्णुवर्द्धन द्वितीय (६०५)
२ जयसिंह प्रथम
३ इन्द्रराज
४ विष्णुवर्द्धन तृतीय
५ मंग युवराज
६ जयसिंह द्वितीय
७ कोकिल
८ विष्णुवर्द्धन चौथा
(६–८ भाई)
९ विजयादित्य प्रथम
१० विष्णु वर्द्धन पंचम
११ नरेन्द्र मृगराज
१२ विष्णु वर्द्धन षष्ठ
१३ विजयादित्य द्वितीय (कलिंग विजय किया)
१४ चौलुक्य भीम प्रथम
१५ विजयादित्य तृतीय
१६ अम्मराज
१७ विजयादित्य चतुर्थ
१८ तलप
१९ विजयादित्य पंचम
२० युद्ध मल्ल
२१ राजभीम द्वितीय
२२ अम्मराज द्वितीय
२३ धनार्णव
(२७ वर्ष राजगद्दी सून्य रही)
२४ कृत्ति वर्म्म
२५ विमलादित्य
२६ राजनरेन्द्र

२७ राजेन्द्र चोल
२८ विक्रमदेव चोल
२९ राज राज चोल (एक वर्ष के लिये राज प्रतिनिधि रहा)
३० वीरदेव चोल (१०७९-११३५) इसके उपरान्त वारंगल के ककत्य वंश के अधीन यह देश हो गया)

केवल राजाओं की सूची से पाठकों को देश के इतिहास का कोई ज्ञान नहीं हो सकता और दुर्भाग्य वश उपरोक्त सूचियों के सिवाय चालुक्यों के विषय में हमें और कोई बात विदित नहीं है। कहा जाता है कि प्राचीन अर्थात् पश्चिमी शाखा का संस्थापक बल्लभी राजाओं के संस्थापक भयर्क का सम्बन्धी था। चौथा राजा पुलकेशिन वही है जिसने कि ह्वेनत्सांग के समय के एक सौ वर्ष पहिले अमरावती के मठ को लूट लिया था और वहां से बौद्ध धर्म्म को उठा दिया था। उसने सम्भवतः चोल को भी विजय किया, कंजीवरम को जला डाला और वहां से पहावा लोगों को भगा दिया, जो कि चालुक्यों के उदय के पहिले दक्षिण में प्रधान जाति थे। सातवां राजा पुलकेशिन द्वितीय कन्नौज के शीलादित्य द्वितीय का बड़ा समस्पर्धी था जिसे कि शीलादित्य कभी पराजीत न कर सका और हम ह्वेनत्सांग की यात्रा में इस बड़े और लड़ाके राजा के अधीन मरहठों का उत्तेजक वृत्तान्त लिख चुके हैं। जान पड़ता है कि इस वंश की प्रबलता लगभग सन् ७५० ई० तक रही। इसके उपरान्त कुछ समय के लिये तैलप द्वितीय के समय तक इसका अधिकार घटा रहा। तैलप द्वितीय ने अपने साम्राज्य को सन् ९७३ ई० में पुनः प्राप्त किया। इसके पीछे दो शताब्दियों तक और यह वंश अच्छी अवस्था में रहा और फिर उसकी समाप्ति हो गई।

पूर्वी या छोटी शाखा ने अपना राज्य उत्तर की ओर कटक की सीमा तक बढ़ाया और अपनी राजधानी राज-महेन्द्री अर्थात् आधुनिक राजमुंद्री में स्थापित की। उनके इतिहास में कई बार उलट फेर हुए परन्तु यह प्राचीन वंश सदा अपने अधिकार को प्राप्त करने में सफल होता गया यहां तक कि यह राज्य विवाह के द्वारा राजेन्द्र चोल के पास चला गया जो कि दक्षिण भारतवर्ष का उस समय प्रधान सम्राट था और जिसके समय में चोल लोगों के प्रताप की सब से अधिक वृद्धि हुई थी।

चालुक्य लोग भारतवर्ष के अन्य सब राजपूतों की नाईं कट्टर हिन्दू थे और बौद्ध धर्म्म के विरोधी थे। हम आगे चल कर एक अध्याय में इस वंश की बनाई हुई हिन्दू इमारतों का कुछ वृत्तान्त देंगे।

अब हम कृष्णा नदी के दक्षिण ओर द्रविड़ के प्राचीन देश को पाते हैं जो कि दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ ह। जान पड़ता है कि प्राचीन द्रविड़ लोगों में आर्य्यों की सभ्यता का प्रचार होने के पहिले वे लोग अपनी ही रीति से सभ्य थे। हम पंड्यों के विषय में लिख चुके हैं जिन्होंने नितांत दक्षिण में ईसा के कई शताब्दी पहिले अपना राज्य स्थापित किया था। स्ट्रैबो ने लिखा है कि आगस्टस के पास राजा पेरिडओन के यहां से एक राजदूत आया था और यह अनुमान किया जाता है कि यह राजदूत पांड्य देश का था। "पिरिप्लस" के समय में पांड्यों के राज्य में मालाबार तट भी सम्मिलित था और प्राचीन ग्रन्थकारों का इस देश के विषय में बहुधा उल्लेख होने के कारण जान पड़ता है कि ईसा के पहिले और पीछे की शताब्दियों में वह इतना सभ्य था कि पश्चिमी जातियों के साथ उसका बड़ा

व्यापार होता था । इस राज्य की राजधानी दो बार बदली गई और अन्त में मदुरा में नियत हुई और यहीं वह टालेमी के समय में तथा इसके उपरान्त रही ।

पाण्ड्य राज्य भारतवर्ष के नितान्त दक्षिण में था और उसमें एक मोटे हिसाब से आज कल के टिन्नीवेली और मदुरा के ज़िले सम्मिलित थे । इसके उत्तर की ओर सन् ईस्वी के पहिले एक दूसरे सभ्य राज्य अर्थात् चोल के राज्य की उत्पत्ति हुई जो कि कावेरी नदी के समीप और उसके उत्तर की ओर फैला हुआ था । इस राज्य की राजधानी काञ्ची का नाम संस्कृत साहित्य में विद्या के लिये प्रसिद्ध है और वह हेनत्सांग के समय में एक भरा पूरा नगर था और इस विद्या के केन्द्र से उत्तर में उज्जैनी और कन्नौज के साथ बराबर व्यवहार होते रहे होंगे । आठवीं तथा इसकी उपरान्त की शताब्दियों में चोल राजाओं का अधिकार कर्नाट और कलिंगन के बहुत से भाग में फैल गया ।

एक तीसरे प्राचीन राज्य अर्थात् चेर राज्य में ट्रेवेनकोर, मालाबार और कैम्बटूर सम्मिलित थे । उसका उल्लेख टालेमी ने किया है और वह सन् ईस्वी के पहिले रहा होगा । केरल भी जिसमें कि मालाबार और कनारा सम्मिलित थे इससे सटा हुआ एक राज्य था और सम्भवतः वह बहुधा पांड्य राजाओं के अधिकार और रक्षा में था ।

यह बात विदित हुई है कि अशोक की दूसरी सूचना में चोड़ा, पद, और केरलपुत्र देशों का उल्लेख है और यह अनुमान किया जाता है कि ये नाम चोल, पांड्य, और केर (वा केरल) राज्यों के लिये आए हैं । इससे यह विदित होगा कि भारतवर्ष के नितान्त दक्षिण के ये तीनों प्राचीन

हिन्दू राज्य ईसा के ३०० वर्षों से अधिक पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे।

दक्षिणी भारतवर्ष के इन प्राचीन तीनों राज्यों का विस्तार भिन्न भिन्न राजाओं और वंशों के अधिकार के अनुसार बढ़ता घटता रहा। पांडय लोग सबसे प्राचीन थे परन्तु सन् ईस्वी के उपरान्त चोल अर्थात् काञ्ची के राजा लोग सबसे प्रसिद्ध और सबसे प्रबल हुए और वे बहुधा चालुक्य वंश की पूर्वी शाखा से युद्ध करते रहे। पाठकों को पूर्वी चालुक्य राजाओं की सूची में राजेन्द्र चोल और उसके तीनों उत्तराधिकारियों के नाम मिलेंगे जो कि उस समय दक्षिणी भारतवर्ष के स्वामी थे।

दसवीं शताब्दी के अन्त में मैसूर में एक बड़े राजपूत वंश अर्थात् बल्लाल वंश का उदय हुआ। ११ वीं शताब्दी में उन्होंने सारे कर्नाटक को अपने आधीन कर लिया और जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं पश्चिमी चालुक्यों के दक्षिणी राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। यह प्रबल वंश कर्नाटक और मालाबार में सर्वप्रधान रहा यहां तक कि अंत में मुसल्मानों ने सन् १३१० ईस्वी में उसका नाश कर डाला।

अब हमें दक्षिण के एक हिन्दू राज्य का वर्णन करना है यद्यपि उसका इतिहास मुसल्मानों के समय से सम्बन्ध रखता है। कर्नाटक के बल्लाल वंश का नाश होने पर उनका स्थान एक नए वंश ने लिया जिसने कि सन् १३४४ ई० के लगभग विजयनगर में अपनी राजधानी स्थापित की। विजयनगर के स्थापित करने वाले दो राजा कहे जाते हैं अर्थात् बुकराय और हरिहर जिन्होंने कि एक विद्वान ब्राह्मण

माधव विद्यारण्य की सहायता से इसे किया। बुकराय के सबसे प्रचीन ताम्रपत्र का समय १३७० ई० है। माधव जो कि सायन भी कहलाता है उसका प्रधान मंत्री था और वह हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों का सबसे बड़ा और विद्वान भाष्यकार है जिसे भारतवर्ष ने उत्पन्न किया है। १४ वीं शताब्दी में एक बड़े हिन्दूराज्य के स्थापित होने के कारण थोड़े काल के लिये हिन्दुओं की विद्या पुनर्जीवित होगई और वेदों, दर्शन शास्त्रों, स्मृति और व्याकरण के भाष्यों के लिये, जो कि आज तक समस्त भारतवर्ष में प्रमाण समझे जाते हैं हम लोग सायन के अनुगृहीत हैं।

विजयनगर का हिन्दूराज्य दो सौ वर्ष से अधिक समय तक बढ़ा चढ़ा रहा। दक्षिण में जिन मुसल्मानी राज्यों का उदय हो गया था उनके बीच उसने अपना स्थान स्थिर रखा, मेल या संधि और युद्ध के द्वारा देशों को जीता या खोया। हिन्दू और मुसल्मानों के बीच पहिले से अधिक हेल मेल हो गया था। बहमनी राजा लोग राजपूत सेना को रखते थे और विजयनगर के राजा लोग मुसल्मानी सेना को रखते थे। उनके सर्दारों को भूमि देते थे और उनके लिये अपनी राजधानी में मसजिदें बनवाते थे।

परन्तु कई शताब्दियों में एक कट्टर जोश की उत्पत्ति हुई और अहमदाबाद बीजापुर और गोलकुण्डा, (जो कि प्राचीन बहमनी राज्य में से भिन्न राज्य बन गए थे) के मुसल्मानी सर्दारों ने हिन्दू राज्य के विरुद्ध एका किया। कृष्णा नदी के तट पर तलीकोटा के निकट सन् १५६५ ई० में एक बड़ा युद्ध हुआ और उसमें मुसल्मान लोगों ने विजय पाई। वृद्ध और वीर राजा का बड़ी निर्दयता से बध किया

गया और उसका सिर कई शताब्दियों तक बीजापुर में तोहफे की नाई रखा रहा।

इस प्रकार विजयनगर के राज्य का नाश हुआ और यह दक्षिणी भारतवर्ष का हिन्दुओं का सबसे अन्तिम बड़ा राज्य था। परन्तु मुसल्मानों की दक्षिणी भारतवर्ष की विजय पूर्ण नहीं हुई और कर्नाटक, ट्रैवेनकोर तथा अन्य स्थानों में छोटे छोटे सर्दार राजा ज़िमींदार और पोलीगार लोग अपना अधिकार जमाए थे जो कि बहुधा अपने पहाड़ी किलों में रहते थे और कर्नाटक में अंग्रेजों के युद्ध के समय में देखने में आए थे।

विजयनगर के अन्तिम राजा का भाई चन्द्रगिरि में आकर बसा और उसकी एक सन्तान ने अंग्रेजों को फोर्ट सेराट ज्यार्ज (मद्रास) में सन् १६४० ई० में अर्थात् प्राचीन विजयनगर के राज्य के पतन होने के १०० वर्ष के भीतर बसने की आज्ञा दी थी। यह छोटी सी बात एक अद्भुत और मनोरञ्जक घटना है जो कि भूत काल को वर्तमान काल से मिलाती है।

अध्याय ६

धर्म्म ।

जो हिन्दू धर्म्म भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म के पहिले प्रचलित था वह साधारणतः वैदिक धर्म्म के नाम से प्रसिद्ध है और जिस रूप में हिन्दू धर्म्म ने बौद्ध धर्म्म के उपरान्त उसका स्थान ग्रहण किया वह साधारणतः पौराणिक धर्म्म कहलाता

है । वैदिक और पौराणिक धर्म्म में दो मुख्य भेद हैं अर्थात् एक तो सिद्धान्त में और दूसरा आचार में ।

वैदिक धर्म्म अन्तिम समय तक तत्वों के देवताओं का धर्म्म था अर्थात् इन्द्र, अग्नि, सूर्य्य, वरुण, मरुत्स, अश्विनी, तथा अन्य देवताओं का, और यद्यपि ऋचाओं और उपनिषदों के बनाने वालों में एक सर्वप्रधान और सर्व व्यापक ईश्वर का विचार उदय हुआ परन्तु फिर भी राजा और सर्व साधारण लोग समान रीति से ऋग्वेद के प्राचीन देवताओं को अब भी बलिप्रदान करते थे। इसी भांति पौराणिक धर्म्म में भी ये सब देवता माने गए थे परन्तु इन देवताओं से कहीं ऊपर एक परमेश्वर अपने तीन रूपों में अर्थात् सृष्टि करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु और संहार करने वाले शिव के रूप में माना गया था । इस हिन्दू त्रैकत्व का मानना पौराणिक धर्म्म के सिद्धान्त में एक नई बात है और इस विचार को बौद्धत्रैकत्व से उद्धृत न किए जाने का सन्देह करना असम्भव है ।

आचार के विषय में पौराणिक धर्म्म की नई बात मूर्तिपूजा है । वैदिक धर्म्म अग्नि में होम करने का धर्म्म था । बड़े प्राचीन समय से जो कुछ देवताओं को चढ़ाना होता था वह अग्नि में हवन किया जाता था और दार्शनिक काल के अन्त तक राजा, पुजेरी तथा नम्र गृहस्थ लोग अग्नि में हवन करते थे और मूर्ति पूजा को नहीं जानते थे। सन् ईस्वी के उपरान्त की शताब्दियों में बौद्ध धर्म्म में बिगड़ कर मूर्तिपूजा होगई थी और इस बात का सन्देह न करना असम्भव है कि आधुनिक हिन्दू धर्म्म ने मूर्ति पूजा को बौद्ध धर्म्म से ग्रहण किया है। यह निश्चय है कि बौद्ध काल में जिस समय मनुस्मृति बन रही थी उस समय मूर्ति पूजा का

प्रचार होता जाता था और इस कट्टर स्मृतिकार ने उसकी निन्दा की है। परन्तु यह रीति दृढ़ता से प्रचलित होती गई यहां तक कि वह आधुनिक हिन्दू रीतियों और विधानों का मूल तत्त्व हो गई है। अब अग्नि में हवन करना प्रायः एक बीती हुई कहानी है।

वैदिक धर्म और पौराणिक धर्म के सिद्धान्त और आचार में ऐसा भेद है। परन्तु उस कट्टर विचार के साथ जो कि हिन्दू धर्म की प्रत्येक नई उन्नति में सदा पाया जाता है, पौराणिक ग्रन्थकारों ने भी नवीन बात के दिखाव को बचाया है और प्राचीन वैदिक देवताओं के नाम में से त्रिमूर्ति के नामों को चुना है। ब्रह्मा अथवा ब्रह्मन्-स्पति ऋग्वेद में स्तुति का देवता था और जब उपनिषदों के बनाने वालों ने एक सर्वव्यापक ईश्वर होने का विचार ग्रहण किया तब उन्होंने उस ईश्वर का नाम ब्रह्मन् रक्खा। अतएव यह नाम ईश्वर के सृष्टि उत्पन्न करने के कार्य्य के लिये ठीक हुआ। ऋग्वेद में विष्णु सूर्य्य का नाम था जो कि सब प्राणियों का पालन करता है और इस कारण उसका नाम ईश्वर की पालन करने वाली शक्ति के आधुनिक विचार के लिये उपयुक्त हुआ। रुद्र ऋग्वेद में बिजली वा बिजली के बादल का नाम था और ईश्वर की संहारक शक्ति के लिये इससे उत्तम और कोई नाम नहीं चुना जा सकता था। और जब ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों के नाम इस प्रकार भिन्न भिन्न रक्खे गए तो उन्होंने बहुत ही शीघ्र विशेष विशेष रूपों और स्थितियों को ग्रहण किया। सन् ईस्वी के लगभग मनु को सृष्टिकर्ता पालनकर्ता और संहारकर्ता का यह त्रैकत्व विदित नहीं था। परन्तु छठीं शताब्दी में कालिदास के समय तक यह जातीय विचार हो गया था।

जब कि सर्व साधारण की कल्पना ने ईश्वर की उन भिन्न भिन्न शक्तियों के लिये भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना करली थी तो इन देवताओं का सम्बन्ध देवियों से करने की आवश्यकता हुई । ब्रह्मा का सम्बन्ध सरस्वती से किया गया और इस संयोग का कारण यह है कि ऋग्वेद में ब्रह्मा स्तुति का देवता और सरस्वती सूक्तों की देवी थी । विष्णु का सम्बन्ध एक नई देवी अर्थात् लक्ष्मी से किया गया जिसका कि प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों में कोई पता नहीं लगता । परन्तु इस कल्पना के कई कारण हैं कि जब ऋग्वेद के खेत के हल की लकीर सीता ने मनुष्य रूप धारण किया और वह भारतवर्ष में एक ऐतिहासिक काव्य की नायका हुई तो लक्ष्मी ने अन्न और धन की देवी की भांति उसका स्थान ग्रहण किया और इस प्रकार वह पालन करनेवाले देवता की पत्नी होने के उपयुक्त हुई और अन्त में केनोपनिषद् में उमा एक निगूढ़ स्त्री है जो कि इन्द्र को ब्रह्म का स्वभाव समझाती है । शतपथ ब्राह्मण में अम्बिका रुद्र की बहिन है और मुण्डको-पनिषद् में काली कराली, इत्यादि अग्नि की सातों जिह्वाओं के नाम हैं और रुद्र, अग्नि वा वज्र का नाम है । पौराणिक ग्रन्थकारों ने इन सब बिखरी हुई बातों को एकत्रित किया और उमा और अम्बिका, दुर्गा और काली-भयानक संहार कर्त्ता, रुद्र, शिव वा महादेव की पत्नी के भिन्न भिन्न नाम रखे गए ।

परन्तु जब कि हमने तीनों प्रधान देवता और उनकी स्त्रियों का उल्लेख किया तो हमने आधुनिक हिन्दूधर्म्म के विषय में केवल बहुत ही थोड़ी बात कही है । इस त्रैकत्व में से एक अर्थात् विष्णु वा पालनकर्ता के अवतारों के सम्बन्ध में लाखों कथाएं हैं । रामायण के नायक राम विष्णु के एक अवतार

समझे जाते हैं, और छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी के पुत्र कृष्ण ने जो कि अङ्गिरस के शिष्य थे और महाभारत के प्राचीन अंशों में केवल यादवों के एक सर्दार थे ईश्वर का रूप ग्रहण किया और विष्णु के दूसरे अवतार समझे जाने लगे। और जैसे जैसे कृष्ण अधिक प्रसिद्ध देवता होते गए तो पुराणों में उनके वृन्दावन की ग्वालिनों के साथ खेल करने की नई नई कहानियां बढ़ती गईं।

हम पहिले देख चुके हैं कि कृष्ण संस्कृत के पवित्र ग्रन्थों में एक प्राचीन नाम है। परन्तु उनका प्रधान देवता की भांति आधुनिक रूप और उनके जन्म के विषय की और कंस तथा निरपराधियों के मारे जाने की कहानियां तथा बाइबिल और भगवद्गीता में समानता के कारण बहुत से यूरप के विद्वानों का यह विचार हुआ है कि हिन्दुओं ने ईसाई कथाओं और विचारों को उद्धृत करके उनका कृष्ण के साथ सम्बन्ध किया है।

इण्डियन एण्टिक्वेरी में कई बर्षों तक इस विषय का एक मनोरञ्जक विवाद चलता रहा। डाक्टर लोरिसनर ने सन् १८६९ में लिखते हुए हिन्दुओं का अनुगृहीत होना प्रमाणित किया, बंबई के मिस्टर तेलंग और हेडेलबर्ग के प्रोफेसर विण्डिश ने इसका विरोध किया। प्रोफेसर भण्डारकर ने महाभाष्य में कृष्ण के देवता होने का उल्लेख दिखलाया है जो कि ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, और प्रोफेसर वेबर यद्यपि सन् ईस्वी की पहिली शताब्दी में ईसाई धर्म और भारतवर्ष के विचारों में परस्पर प्रभाव पड़ने को स्वीकार करते हैं तथापि वे डाक्टर लोरिनर साहब के मत को अत्युक्ति मात्र समझते हैं।

शिव विष्णु के जैसे प्रसिद्ध देवता नहीं हैं परन्तु पौराणिक काल में अर्थात् विक्रमादित्य तथा उड़ीसा के केशरी राजाओं के समय में शिव अधिक प्रसिद्ध थे। पुराणों में शिव की पत्नी के विषय में विलक्षण कथाएं गढ़ी गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में दक्ष पारवती के एक यज्ञ करने का उल्लेख है, परन्तु यह कथा कि सती (शिव की पत्नी और दक्ष की पुत्री) ने इस यज्ञ में अपना प्राण दिया, पुराणों की जोड़ी हुई बात है। फिर केन उपनिषद् में हमें उमा हैमवती का उल्लेख मिलता है जो कि इन्द्र को ब्राह्मन् की प्रकृति समझाती है और उमा हैमवती के इस रूप से पुराण की इस कथा की उत्पत्ति हुई कि सती ने हिमालय पर्वत की कन्या हो कर जन्म लिया। इस पर्वत की कन्या ने इस भांति समाधि में मग्न होकर शिव की आराधना की, मानो प्रेम के देवता की सहायता पाने पर भी वह किसी भांति इस योगी देवता पर कोई प्रभाव न डाल सकी, और अन्त में उसने अपनी तपस्या और भक्ति द्वारा उसे किसी भांति प्राप्त किया, ये सब पुराणों की मनोहर कल्पनाएं हैं जिन्हें कि कालिदास की चिरस्थायी कविता ने रक्षित किया।

हिन्दू त्रैकत्य के देवताओं के सम्बन्ध में मुख्य कथाएं इस प्रकार की हैं। ऋग्वेद के तत्वों के प्राचीन देवताओं का आधुनिक हिन्दु देवताओं में बड़ा नीचा स्थान है। फिर भी पुराणों में इन्द्र के स्वर्ग के भड़कीले वृत्तान्त हैं कि वहां सुन्दर वैदिक देवता अग्नि वायु इत्यादि तथा उनके स्वर्गीय सैनिक रथ और हाथी, सुन्दर अप्सराओं और गाने वाले गंधर्वों से सुशोभित हैं। परन्तु इन वैदिक देवताओं के भी रूप परिवर्त्तित हो गए हैं। इन्द्र वह सोम पीनेवाला युद्ध का देवता नहीं रहा जो कि आर्य्यों को आदिवासियों के विरुद्ध

युद्ध करने में सहायता देता था। समय में परिवर्तन हो गया है और समय के साथ ही साथ विचारों में भी परिवर्तन हो गया है। पुराण का इन्द्र विलास और कुछ विषय युक्त स्वर्ग की सभा का भड़कीला राजा है जो कि अपना अधिक समय नाच और गान में व्यतीत करता है। उसकी रानी शची वा इन्द्राणी एक उत्तम और उत्साह युक्त कल्पना है और वह सब देवताओं से सत्कार पाती है। वेद की अप्सराओं ने मनोहर रूप धारण किया है और रम्भा, तिलोत्तमा और पौराणिक उर्वसी स्वर्ग की वेश्याएं हैं जो कि इन्द्र के अवकाश के समय को नृत्य और प्रेम की बातों से बिताती थीं। इन्द्र का पद कठिन तपस्या के द्वारा प्राप्त किया हुआ कहा गया है और वह सदा इस भय में है कि पृथ्वी पर के मनुष्य उसी रीति से उसके पद को न प्राप्त करलें। इस कारण वह बहुधा स्वर्ग की अप्सराओं को पृथ्वी पर कठोर तपस्याओं में विघ्न डालने के लिये और अपनी प्रबल मोहनी शक्ति के द्वारा तपस्वियों के हृदय को विचलित करने के लिये भेजता है। उसके भय का एक दूसरा कारण असुर हैं और यद्यपि वे स्वर्ग से निकाल दिए गए हैं तथापि वे बहुधा सेना लेकर आते हैं और केवल युद्ध द्वारा उसे पुनः जीत लेते हैं। ऐसे अवसरों पर इन्द्र तथा उसके साथियों को किसी उच्च देवता अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु वा शिव की शरण लेनी पड़ती है। ये देवता लोग छोटे देवताओं की असुरों के विरुद्ध सहायता करने की ओर कभी नहीं झुकते परन्तु हारे हुए देवताओं को धीरज देते हैं और उन्हें अपना पद पुनः प्राप्त करने के लिये उपाय बतलाते हैं। ऐसे एक अवसर पर देवताओं ने शिव और पर्वत की कन्या उमा के विवाह का उपाय किया और इस विवाह से कुमार, स्कन्द, वा कार्तिकेय नामक जो पुत्र हुआ

उसने निकाले हुए देवताओं को विजय और स्वर्ग की पुनः प्राप्ति करवाई । दोनों कुमार और उसके भाई हाथी के मस्तक वाले गणेश प्राचीन हिन्दू धर्म्म में अज्ञात हैं और वे पुराणों की कल्पनाएं हैं ।

जब कि सर्वसाधारण का हृदय इन पौराणिक देवताओं के सम्बन्ध की असंख्य कथाओं में लिप्त होता है जिनकी कि संख्या तेंतीस करोड़ कही गई है (जो कि तेंतीस वैदिक देवताओं का प्रत्यक्ष 'चढ़ाव है') बुद्धिमान और विद्वान लोगों को उपनिषदों के इस मुख्य सिद्धान्त का सदा स्मरण रहता है कि परमेश्वर केवल एक है और देवता असुर और मनुष्य अर्थात् समस्त सृष्टि की उत्पत्ति उसी सर्वव्यापक ईश्वर से हुई है और सबका उसी सर्वव्यापक ईश्वर में लय हो जायगा ।

पुण्य के कर्मों से स्वर्ग में थोड़े वा बहुत समय के लिये वास मिलता है और पाप कर्मों से नियत समय तक नर्क के कष्ट सहने पड़ते हैं और इसके उपरान्त आत्मा को नई देहों में पुनर्जन्म लेने पड़ते हैं । पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के हृदय में उतनी ही दृढ़ता के साथ जमा हुआ है जितना कि ईसाइयों के हृदय में मृतोत्थान का सिद्धान्त और नीच से नीच हिन्दू भी नए जन्मे हुए बच्चे में अथवा पक्षी वा पशु में भी सम्बन्ध की सम्भावना देखता है । केवल पवित्र ध्यान और विद्या के द्वारा पाप से तथा सब सांसारिक विचारों और अभिलाषाओं से रहित रह कर भी आत्मा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकती है और परमेश्वर में संयुक्त हो सकती है जो कि हिन्दुओं की अंतिम मुक्ति है । हम देखते हैं कि उपनिषदों का यह विचार किस भांति बौद्धों के निर्वाण के सिद्धान्त में परिवर्तित किया गया और तब वह वेदान्त और

आधुनिक पौराणिक धर्म्म में किस भांति ग्रहण किया गया। इस कारण सच्चे विद्वान और बुद्धिमान लोगों को यह सम्मति दी गई है कि वे कीर्ति के कार्य्यों द्वारा इन्द्र के स्वर्ग को प्राप्त न करें वरन् सांसारिक विषयों और कामनाओं से इस संसार में मुक्त होकर उस परमब्रह्म में मिल जांय।

उत्तर काल के हिन्दू धर्म्म उसी एक ईश्वर को मान कर चले हैं और उन्होंने आधुनिक हिन्दू देवताओं में से कोई एक नाम इस कार्य्य के लिये चुन लिया है। डाक्टर विल्सन साहब ने हिन्दुओं के धर्म्म सम्प्रदाय के विषय में अपने ग्रन्थ में वैष्णवों के १९ सम्प्रदाय, शैवों के ११ सम्प्रदाय, शाक्तों के ४ सम्प्रदाय और उनके अतिरिक्त बहुत से भिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

वैष्णव धर्म्म अपने कई रूपों में केवल बौद्ध धर्म्म का अवशेष जान पड़ता है। उसमें सब मनुष्यों और सब जातियों की समानता का वही सिद्धान्त और जीव की हिंसा का वही निषेध है। परन्तु इन सिद्धान्तों का संयोग एक देवता विष्णु में विश्वास रखने के साथ कर दिया गया है और इसी विष्णु को साधारण लोग बहुधा कृष्ण के नाम से पूजते हैं। कृष्ण के वृन्दावन की ग्वालिनों के साथ विहार करने की कथाओं का प्रचार लोगों में पौराणिक समय से हुआ है। भारतवर्ष के सब से बड़े जीवित ग्रन्थकार बंकिमचन्द्र ने यह बात अभी प्रमाणित की है कि इन कथाओं का महाभारत में कहीं उल्लेख नहीं है। शिव और उसकी पत्नि शक्ति के उपासकों ने बहुधा इस से भी अधिक बिगड़े हुये सिद्धान्तों और आचारों को ग्रहण किया है।

आधुनिक हिन्दू धर्म के भिन्न भिन्न पन्थों के सिद्धान्त और विचार इस प्रकार के हैं परन्तु किसी जाति के आचरण पर उसके धार्मिक सिद्धान्तों की अपेक्षा उसकी रीतियों और विधानों से अधिक प्रभाव पड़ता है और हम पहिले कह चुके हैं कि धार्मिक रीतियों और विधानों में प्राचीन वैदिक काल से बहुत ही अन्तर हो गया है।

मन्दिरों में मूर्ति की पूजा बौद्ध धर्म के प्रचार के पहिले हिन्दूओं को विदित नहीं थी और इसका व्यवहार उस समय से हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध धर्म प्रधान हो गया था। हम पहिले देख चुके हैं कि मनु ने जो कि धर्म सम्बन्धी रीतियों में बड़ा कट्टर था, घर की अथवा यज्ञ को अग्नि में हवन करने की प्राचीन रीति का समर्थन करता है और मन्दिर के पुजारियों को बड़े क्रोध के साथ मदिरा और मांस के बेचने वालों के तुल्य कहता है। परन्तु मन्दिर और मूर्तियां सर्व साधारण के हृदय को आकर्षित करती थीं और छठीं शताब्दी तक वे सत्कार की दृष्टि से देखी जाने लगीं और उन्होंने अधिक अंश में प्राचीन पूजा की रीति को दबा लिया। छठीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में हमें यज्ञों का कोई उल्लेख नहीं मिलता सिवाय उन यज्ञों के जिन्हें राजा लोग करते थे, परन्तु कालिदास तथा अन्य कवियों ने मन्दिर और उनमें जिन मूर्तियों की पूजा होती थी उनका बहुधा उल्लेख किया है।

यह परिवर्तन निस्संदेह अनुचित हुआ। लोगों के हृदय पर मूर्तिपूजा का कभी उत्तम प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु भारतवर्ष में इसके साथ और भी बुराइयां हुईं। मनु के समय तक वैश्य लोग अर्थात् सर्वसाधारण जन देवताओं की पूजा

अपनी इच्छानुसार कर सकते थे और अपने घर की अग्नि में हवन कर सकते थे। परन्तु जब पूजा का स्थान अग्नि से मन्दिर में परिवर्तित हुआ तो पुजेरियों का जो कि इन मन्दिरों के रक्षक थे अधिक प्रभाव लोगों के हृदय पर पड़ा और उन्होंने लोगों के गले में अधिक बंधन डाल दिए। धूम धाम के उत्सव और भड़कीली सजावट ने सर्वसाधारण के ध्यान को आकर्षित किया उनके मिथ्या विचारों को रक्षित रखा, कबिता, शिल्प, गृहनिर्माण विद्या, संगतराशी, और गान विद्या ने इसमें सहायता दी और कुछ ही शताब्दियों के भीतर जाति का धन उन भड़कीले मन्दिरों और उत्सवों में व्यय होने लगा जो कि लोगों की अपरिमित भक्ति और उनके विश्वास के बाहरी दिखलावे थे। यात्रा जो कि बहुत प्राचिन समय में बहुत ही कम की जाती थी अथवा बिलकुल नहीं की जाती थी, बहुत ही अधिक होने लगी, मन्दिरों की सहायता के लिये भूमि और द्रव्य के दान बहुतायत से आने लगे और स्वयं धर्म्म ने मूर्ति और उनके रक्षकों का अन्धे होकर सत्कार करने का रूप ग्रहण किया। भारतवर्ष के बड़े बड़े नगर मन्दिरों से भर गए और पत्थर के मन्दिरों में तथा मूर्ख पूजकों के हृदय में नए नए देवताओं और नई नई मूर्तियों ने स्थान पाया।

हमने ऊपर पौराणिक धर्म्म के विषय में जो बातें लिखी हैं उनको अगले अध्याय में पौराणिक धर्म्म ग्रन्थों की संक्षिप्त आलोचना करके दिखलावेंगे।

अध्याय ७।

धर्म्म ग्रन्थ।

१ धर्म्म शास्त्र।

दार्शनिक काल की चाल व्यवहार और कानूनों के लिये हमें गौतम, वशिष्ठ, बौद्धायन और आपस्तम्भ के धर्म्मसूत्रों में सबसे उत्तम सामग्रियां मिली थीं। मनु के धर्म्म शास्त्र से हमें बौद्धकाल में हिन्दू जीवन के वृत्तान्त के लिये भी वैसी ही बहुमूल्य सामग्रियां मिली थीं। सो भाग्य वश पौराणिक समय में भी धर्म्मशास्त्र बनते रहे और याज्ञवल्क ने हमें बीस ग्रन्थों से कम की सूची नहीं दी है—

१	मनु	११	कात्यायन
२	अत्रि	१२	बृहस्पति
३	विष्णु	१३	पराशर
४	हारीत	१४	व्यास
५	याज्ञवल्क्य	१५	शंख
६	उशणस	१६	लिखित
७	अंगिरस	१७	दक्ष
८	यम	१८	गौतम
९	आपस्तम्ब	१९	सातातप
१०	संवर्त्त	२०	वशिष्ठ

पाराशर भी हमें इन्हीं २० ग्रन्थों के नाम देता है, केवल उसने विष्णु के स्थान पर काश्यप, व्यास के स्थान पर गर्ग और यम के स्थान पर प्रचेतस लिखा है। इन २० ग्रन्थों में गौतम, आपस्तम्ब और वशिष्ठ दार्शनिक काल से और

मनु वौद्ध काल से सम्बन्ध रखता है जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। शेष १६ ग्रन्थ भी सम्भवतः प्राचीन सूत्र ग्रन्थों के आधार पर बनाए गए हैं परन्तु वे अपने आधुनिक रूप में पौराणीक काल से अथवा मुसल्मानों के भारत विजय की पीछे की शताब्दियों से सम्बन्ध रखते हैं।

और यही हमारी कठिनाई है। हम पौराणिक काल के लोगों के आचरण के वृत्तान्त के लिये इन १६ धर्म्म शास्त्रों का निश्चय रूप से हवाला नहीं दे सकते क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उनमें से कौन पौराणिक काल के बने हैं और कौन उसके पीछे के समय के। इनमें से कुछ निस्सन्देह पौराणिक काल के अथवा उससे भी पहिले के बने हैं परन्तु इन ग्रन्थों में कुछ अध्याय पीछे के समय में मुसल्मानों के विजय के उपरान्त जोड़े गए हैं। फिर कुछ ग्रन्थ पूरे इस पीछे के समय के बने हुए जान पड़ते हैं। इस कारण इन धर्म्म शास्त्रों में से हिन्दुओं के आचरण का जो वृत्तान्त लिया जाय वह मुसल्मानों के समय का होगा, पौराणिक समय का नहीं जिसे कि हम वर्णन करना चाहते हैं।

इन सोलहो धर्म्म शास्त्र के थोड़े विवरण से यह बात प्रगट हो जायगी।

१ अत्रि—इसकी जो प्रति हमने देखी है वह एक छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें कि ४०० श्लोकों से कम हैं और वह लगातार श्लोक छंद में लिखा गया है। उसमें आधुनिक शास्त्रों तथा प्राचीन वेदों के अवलोकन करने की आवश्यकता दिखलाई गई है (११), फल्गू नदी में स्नान करने और गदाधर देव के दर्शन करने का उपदेश दिया गया है (५७), शिव और विष्णु के चरणामृत पीने का उपदेश किया गया है,

सब म्लेच्छों से घृणा प्रगट की गई है (१८०, १८३), विधवाओं को जलाने की रीति का उल्लेख है (२०४) और उसमें उसके मुसल्मानों के विजय के उपरान्त के बनाए जाने अथवा किए जाने के सब चिन्ह हैं ।

२ विष्णु—उपरोक्त १६ धर्म्म शास्त्रों में केवल विष्णु ही गद्य में है और इस कारण वह सबसे अधिक प्राचीनता का स्वत्व रख सकता है । डाक्टर जौली साहेब ने काथक कल्प सूत्र के गृह्यसूत्र से उसकी घनिष्ट समानता दिखलाई है और यह सूत्र निस्सन्देह दार्शनिक काल का है, और डाक्टर बुहलर के साथ वे भी इस बात का समर्थन करते हैं कि विष्णु धर्म्म शास्त्र का अधिकांश वास्तव में उसी कल्प सूत्र का प्राचीन धर्म्म सूत्र है । फिर भी यह प्राचीन ग्रन्थ कई बार संकलित और परिवर्त्तित किया गया जान पड़ता है । डाक्टर बुहलर साहेब का यह मत है कि समस्त ग्रन्थ को विष्णु के किसी अनुयायी ने संकलित किया था और अन्तिम तथा भूमिका के अध्यायों को (पद्य में) किसी दूसरे तथा उसके पीछे के समय के ग्रन्थकार ने बनाया था । इस प्रकार इस ग्रन्थ के कई बार बनाए जाने का समय चौथी शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक है ।

जैसी कि आशा की जा सकती है इस ग्रन्थ का रूप बहुत ही भिन्न भिन्न है । उसमें ऐसे अध्याय हैं जो कि दार्शनिक काल में वशिष्ठ और बौद्धायन द्वारा उद्धृत किए हुए दिखलाए गए हैं, और फिर ऐसे वाक्य भी हैं जो हरिवंश तथा अन्य आधुनिक ग्रन्थों से उद्धृत किए हैं । अध्याय ६५ में प्राचीन और सच्चे काथक मंत्र दिए हैं जो कि वैष्णव कार्य्य के लिये परिवर्त्तित और संकलित किए गए हैं, अध्याय

६७ में सांख्य और योग दर्शनों का वैष्णव धर्म्म के साथ सम्बन्ध करने का यत्न किया गया है, अध्याय ७८ में आधुनिक सप्ताह के दिनों (अतवार से लेकर सनीचर तक) का उल्लेख है जो कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता, अध्याय २०, श्लोक ३ और २५, में विधवाओं के आत्म बलिदान करने का उल्लेख है, अध्याय ८४ म्लेच्छों के राज्य में श्राद्ध करने का निषेध करता है, और अध्याय ८५ में लगभग ५० तीर्थस्थानों का वर्णन है। भूमिका का अध्याय जो कि लगातार श्लोकों में है और जिसमें पृथ्वी एक सुन्दर स्त्री के रूप में क्षीर सागर में अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ लेटे हुए विष्णु से परिचित कराई गई है, सम्भवतः इस आधुनिक ग्रन्थ के सौ अध्यायों में सबसे पीछे के समय का है।

इस प्रकार से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में परिवर्तन और सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो कि प्रत्येक नए धर्म्म के तथा प्रत्येक आधुनिक रीति के सहायक के लिये हर्ष का, परन्तु इतिहास जानने वाले के लिये शोक का विषय है।

३ हारीत—यह दूसरा प्राचीन ग्रन्थ है जो कि पीछे के समय में पूर्णतया फिर से लिखा किया गया है। हारीत का उल्लेख बौद्धायन, वशिष्ठ और आपस्तम्ब में किया है जो सब कि दार्शनिक काल के ग्रन्थ हैं। मिताक्षर और दायभाग में हरीत के जो उद्धृत वाक्य पाए जाते हैं वे सब गद्य सूत्रों में हैं। परन्तु फिर भी हारीत के जिस ग्रन्थ को हमने देखा है वह लगातार श्लोकों में है और उसका विषय भी आधुनिक समय का है। पहिले अध्याय में यह पौराणिक कथा है कि विष्णु अपनी पत्नी श्री के साथ एक

कल्पित नाग पर जल में पड़े हैं और उनकी नाभी में एक कमल उत्पन्न हुआ जिसमें से ब्रह्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने कि संसार की सृष्टि की। दूसरे अध्याय में नरसिंह देव की पूजा का वर्णन है और चौथे अध्याय में विष्णु की पूजा का, और सातवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में योग शास्त्र का विषय है।

४ याज्ञवल्क्य*—स्टेंज़लर और लेसन साहब याज्ञवल्क्य का समय विक्रमादित्य के पहिले परन्तु बौद्ध धर्म्म के प्रचार के उपरान्त निश्चित करते हैं। आधुनिक खोज से विद्वान लोग मनु का समय ईसा के १ वा २ शताब्दी पहिले वा उपरान्त निश्चित कर सके हैं और चूंकि याज्ञवल्क्य निस्सन्देह मनु के उपरान्त हुआ अतएव उसका सम्भव समय ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी अर्थात् पौराणिक काल के आरम्भ के लगभग है। इस ग्रन्थ के विषय को देखने से यह सम्मति कुछ दृढ़ होती है। अध्याय २, श्लोक २९६ में बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख है और बौद्धों की रीति और सिद्धान्तों के बहुत से उल्लेख हैं। मनु उच्च जाति के मनुष्यों को शूद्र जाति की स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार देता है परन्तु याज्ञवल्क्य इस प्राचीन रीति का विरोध करता है (१, ५६)। परन्तु बहुत सी बातों में याज्ञवल्क्य उत्तर काल के धर्म्म शास्त्रों की अपेक्षा मनु से अधिक मिलता है और सब बातों पर विचार कर उपरोक्त १६ शास्त्रों में से केवल याज्ञवल्क्य का ही ग्रन्थ ऐसा है जिसपर कि पौराणिक काल की बातों के

* पाठकों को जनक के पुरोहित प्राचीन याज्ञवल्क्य तथा इस धर्म्म शास्त्र के बनाने वाले इस पीछे के समय के याज्ञवल्क्य को भिन्न समझना चाहिए।

लिये पूर्णतया विश्वास किया जा सकता है। वह ग्रन्थ तीन अध्याओं में है और उसमें एक हजार से अधिक श्लोक हैं।

५ उषणस अपने आधुनिक रूप में यह ग्रन्थ बहुत पीछे के समय का बना हुआ है। उसमें हिन्दू त्रिमूर्ति का (३,५०) और विधवाओं के आत्मबलिदान का (३,११७) उल्लेख है, समुद्र यात्रा करने वालों को अपराधी ठहराया है (४,३३) और पाप करने वालों के लिये अग्नि वा जल में आत्म बलिदान करने के लिये लिखा है (८,३४)। बहुत से नियमों, निषेधों और प्रायश्चितों की इस ग्रन्थ में विशेषता पाई जाती है। यह ग्रन्थ नौ अध्याओं में है, और उसमें लगभग ६०० श्लोक हैं।

६ अंगिरस—इस नाम का जो ग्रन्थ हमें प्राप्त है वह सत्ताइस श्लोकों का एक छोटा सा अध्याय है। यह आधुनिक समय का ग्रन्थ है और नील की खेती को उत्तम जातियों के लिये अयोग्य अपवित्र व्यापार लिखता है।

७ यम—दार्शनिक काल में वशिष्ठ ने यम का उल्लेख किया है परन्तु जो यम स्मृतियां आजकल वर्त्तमान हैं वे आधुनिक समय की बनी हुई हैं और वशिष्ठ का तात्पर्य उनसे नहीं हो सकता। हमें ७८ श्लोकों का एक छोटा सा ग्रन्थ अब प्राप्त है। अंगिरस के साथ उसमें भी धोबी, चर्मकार, नाचने वालों, बरुद, कैवर्त, मेद और भील लोगों को अपवित्र जाति लिखा है।

८ संवर्त—यह आधुनिक समय का एक पद्य ग्रन्थ है जिसमें २०० से अधिक श्लोक हैं। यह कोई उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। यम की भांति उसमें भी धोबियों, नाचने वालों और चर्मकारों को अपवित्र जाति माना है।

१० कात्यायन—(जिसे कि पाठकों को पाणिनि के प्राचीन समालोचक से भिन्न समझना चाहिए) उन नियमों और रीतियों को दीपक की नाईं प्रकाशित करता है जिन्हें कि गोभिल ने अन्धकार में छोड़ दिया है जिसके गृह्य सूत्र की आलोचना हम दार्शनिक काल के वृत्तान्त में कर चुके हैं। परन्तु कात्यायन का धर्म शास्त्र पीछे के समय का है, और वह २६ अध्यायों में है जिनमें कि लगभग ५०० श्लोक हैं। अध्याय १ श्लोक ११-१४ में गणेश तथा उसकी माताओं गौरी, पद्मा, शची, सावित्री, जया, विजया इत्यादि की पूजा के विषय में लिखा है, और यह भी लिखा है कि उनकी मूर्तियों की अथवा उजले वस्त्र पर लिखे हुए चित्रों की पूजा करनी चाहिए। अध्याय १२, श्लोक २ में (जो कि गद्य में है) हिन्दू भैकरव का उल्लेख है, अध्याय १६, श्लोक ७ में उमा का उल्लेख है, और अध्याय २०, श्लोक १० में जिस समय सीता निकाल दी गई थी उस समय राम का सीता की स्वर्ण प्रतिमा के साथ यज्ञ करने का उल्लेख है।

११ बृहस्पति—इस ग्रन्थ के ८० श्लोकों का एक छोटा सा खण्ड हमारे देखने में आया है, जो कि प्रत्यक्ष आधुनिक समय का बना हुआ है। उसमें ब्राह्मणों को भूमि दान देने के पुण्य का विषय है और पाठकों के हृदय पर ब्राह्मण के कोप के भयानक फल को जमाने का यत्न किया गया है। परन्तु "सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट" नाम की ग्रन्थावली में बृहस्पति के अधिक प्राचीन और अधिक विश्वास योग्य ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

१२ पराशर निस्संदेह सब से पीछे के समय के धर्म्म शास्त्रों में से एक है। स्वयं संग्रहकर्ता हमें कहता है (१,२१)

कि मनु सत्य युग के लिये था, गौतम त्रेता युग के लिये, शंख और लिखित द्वापर युग के लिये थे। और पराशर अब कलियुग के लिये है। हमें हिन्दू ऐकत्व का उल्लेख (१,१६), और विधावाओं के आत्मबलिदान का उल्लेख (४,२८ और २९) मिलता है। फिर भी विधवा विवाह इस पीछे के समय में भी प्रचलित था और यदि किसी स्त्रीके पति का पता न लगे अथवा वह मर जाय अथवा योगी वा जाति बाहर वा नपुंसक होजाय ते पराशर उस स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा देता है (४,२६)। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में है, और उसमें लगभग ६०० श्लोक हैं।

१३ व्यास* और भी पीछे के समय का है। वह निःसन्देह हिन्दू ऐकत्व का उल्लेख करता है (३,२४) और विधवाओं के आत्म बलिदान की प्रशंसा करता है (२,५३) और जाति के अधिकांश से बने हुए भिन्न भिन्न व्यवसायों का नीच बनाया जाना बहुत से अन्य धर्म्म शास्त्रों की अपेक्षा व्यास में अधिक पूर्ण है। मुसल्मानी राज्य में हिन्दुओं के व्यवहारों के वृत्तान्त के लिये हमें व्यास से बहुत उत्तम सामग्रियां मिलेंगी। इस छोटे से ग्रन्थ में चार अध्याय हैं जिनमें दो सौ के ऊपर श्लोक हैं।

१४ शंख भी विष्णु की नाईं एक प्राचीन ग्रन्थ है, परन्तु वह पीछे के समय में पुनः पद्य में बनाया गया है, यद्यपि

* पाठकों को इन धर्म्म शास्त्रों के बनाने वाले पराशर और व्यास को इन नामों के प्राचीन ज्योतिषी और वेदोंके प्राचीन संग्रह कर्ता से भिन्न समझना चाहिए। इन आधुनिक संग्रह कर्ताओं ने कदाचित अपने ग्रन्थों के प्राचीन समझे जाने के लिये इन प्राचीन नामों को ग्रहण कर लिया है।

उसके दो अंश अब तक भी गद्य में हैं। डाक्टर बुहलर का विचार है कि गद्य के अंश शंख के मूल ग्रन्थ से लिए हुए सच्चे सूत्र हैं और यह मूल ग्रन्थ दार्शनिक काल में बना था, और पूर्णतया सूत्रों में था। परन्तु इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि यह ग्रन्थ बहुत ही आधुनिक समय का है। अध्याय ३, श्लोक ७ में मन्दिरों और शिव की मूर्ति का उल्लेख है, अध्याय ४ श्लोक ६ में उच्च जाति के मनुष्यों का शूद्र जाति की स्त्री से विवाह करने का निषेध है और मनु ने इसका निषेध नहीं किया है। अध्याय ७, श्लोक २० में ग्रन्थकार ने विष्णु का नाम वासुदेव लिखा है। अध्याय १४, श्लोक १—२ में ग्रन्थकार ने १६ तीर्थ स्थानों का नाम लिखा है, और अध्याय १४, श्लोक ३ में म्लेच्छ देशों में श्राद्ध करने अथवा जाने का भी निषेध किया है। परन्तु इस आधुनिक ग्रन्थ में भी विधवा विवाह की आज्ञा दी गई है [१५,१३]। इस ग्रन्थ में १८ अध्याय हैं, जिनमें तीन सौ श्लोकों से अधिक हैं।

१५ लिखित जैसा कि हमें अब प्राप्त है, ६२ श्लोकों का एक छोटा आधुनिक ग्रन्थ है और उसमें देव मन्दिरों का (४) काशीवास करने का [११], और गया में पिण्ड देने का उल्लेख है।

१६ दक्ष भी सात अध्यायों का एक आधुनिक ग्रन्थ है, और उसमें गृहस्थी के जीवन तथा मनुष्य और स्त्रियों के कर्तव्य का एक मनोहर वर्णन दिया है। परन्तु इस वर्णन को विधवाओं के आत्म बलिदान की निष्ठुर रीति ने कलंकित कर दिया है [४,२०]।

१७ सातातप अपने आधुनिक रूप में व्यास की नाईं १६ धर्म्म शास्त्रों में एक सबसे नवीन है और उसमें तीन

आंख वाले रुद्र का [१,१६] विष्णु की पूजा का [१,२२], चार मुख वाले ब्रह्मा की मूर्ति का [२,५], और भैंसे पर चढ़े हुए तथा हाथ में दण्ड लिए हुए यम की मूर्ति का भी [२,१८], उल्लेख है। इसमें विष्णु की पूजा श्री वत्सलांछन, वासुदेव, जगन्नाथ के नाम से कही गई है, उसकी स्वर्ण की मूर्ति वस्त्र से सज्जित करके पूजा के उपरान्त ब्राह्मणों को देनी चाहिए [२,२२–२५]। सरस्वती की भी जो कि अब ब्रह्मा की स्त्री है, पूजा कही गई है [२,२८], और यह भी कहा गया है कि पाप से मुक्ति पाने के लिये हरिवंश और महाभारत को श्रवण करना चाहिए। इसके आगे गणेश [११,४४], दोनों अश्विनों [४,१४], कुबेर [५,३], प्रचेत [५,१०], और इन्द्र [५, १७], की मूर्तियों का उल्लेख है। इन सब स्वर्ण की मूर्तियों को भी केवल ब्राह्मणों को दान देने के लिये कहा गया है और वास्तव में इस कार्य्य का उद्देश्य ब्राह्मणों को बहुतायत से दान दिलाने का जान पड़ता है। संसार में कोई पाप वा कोई असाध्य रोग अथवा कोई गृहस्थी की आपत्ति वा संपत्ति अथवा कोई हानि ऐसी नहीं है जो ऐसे दान से पूरी न की जा सके। मुसल्मानों के विजय के उपरान्त हिन्दू धर्म्म ने जो रूप धारण किया था उसके जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुमूल्य है।

उपरोक्त वृत्तान्त से यह विदित होगा कि याज्ञवल्क्य तथा सम्भवतः एक वा दो अन्य धर्म्म शास्त्रों को छोड़ कर शेष सब पौराणिक काल में हिन्दुओं के व्यवहारों को जानने के लिये निरर्थक हैं। उनमें से अधिक मुसल्मानों के राज्य में हिन्दुओं के आचरण और धर्म्म जानने के लिये कुछ उपयोगी हैं।

दुर्भाग्य वश पुराणों की भी जिस रूप में वे प्राप्त हैं वही दशा है। उनसे हमें पौराणिक काल में हिन्दू धर्म्म का स्वाभाविक और मनोरञ्जक वृत्तान्त नहीं मिलता वरन उनमें विशेष देवताओं यथा विष्णु शिव इत्यादि की प्रधानता के विषय में साम्प्रदायिक झगड़े हैं। और हम यह जानते हैं कि भारतवर्ष में मुसल्मानों के राज्य के समय में ये झगड़े सबसे अधिक प्रचलित थे। अब हम पुराणों के संक्षिप्त वृत्तान्त की ओर झुकेंगे।

२ पुराण।

विक्रमादित्य की सभा का कोषकार अमरसिंह पुराण में पञ्च लक्षण अर्थात् पांच विशेष विषयों का होना लिखता है और भाष्यकार इस बात में सहमत हैं कि वे पांच विषय ये हैं-अर्थात् (१) आदि सृष्टि वा जगत की उत्पत्ति (२) उपसृष्टि वा संसार का नाश और पुनरुत्पत्ति जिसमें समय निरूपण भी सम्मिलित है (३) देवताओं तथा आचार्यों की वंशावली (४) मनु के राज्य वा मन्वन्तर (५) सूर्य और चन्द्र वंशों तथा उनके आधुनिक संतान का इतिहास। जो पुराण अब वर्तमान हैं और जो मुसल्मानों के भारत विजय के उपरान्त संकलित किए गए थे, इस वर्णन से बहुत कम मिलते हैं।

पुराण तीन श्रेणी के हैं अर्थात् विष्णु, शिव और ब्रह्मा से क्रमात सम्बन्ध रखने वाले। उनके नाम और उनके श्लोकों की जो संख्या समझी जाती है नीचे दी जाती है--

वैष्णव		शैव		ब्रह्मा	
विष्णु	२३०००	मत्स्य	१४०००	ब्रह्मांड	१२०००
नारदीय	२५०००	कूर्म्म	१७०००	ब्रह्मवैवर्त	१८०००

वैष्णव		शैव		ब्रह्मा	
भागवत	१८०००	लिंग	११०००	मारकण्डेय	९०००
गरुण	१९०००	वायु	२४०००	भविष्य	१४५००
पद्म	५५०००	स्कंद	८११००	वामन	१००००
वाराह	२४०००	अग्नि	१५४००	ब्रह्मा	१००००

इस पुस्तक में इन बृहद् ग्रन्थों का कुछ भी सारांश देना असम्भव है जिसमें कि कई शताब्दियों तक पुजेरियों ने प्राचीन कथाओं, इतिहासों और वार्ताओं को संकलित करने और आधुनिक साम्प्रदायिक धर्मों और पूजाओं का प्रचार करने का यत्न किया है। हम थोड़े से शब्दों में प्रत्येक ग्रन्थ के केवल प्रधान चिन्हों का वर्णन करेंगे।*

१ ब्रह्मपुराण—इसके आरम्भ के अध्यायों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा कृष्ण के समय तक सूर्य्य और चन्द्र वंशों का वृत्तान्त दिया है। इसके उपरान्त सृष्टि का वर्णन दिया है और फिर उड़ीसा तथा वहां के सूर्य्य, शिव और जगन्नाथ के मन्दिरों और पवित्र कुंजों का वर्णन है। इसके उपरान्त कृष्ण का जीवन चरित्र दिया है जिसका कि एक एक शब्द वही है जैसा कि विष्णु पुराण में है और फिर योग का वृत्तान्त देकर यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

२ पद्मपुराण—यह पुराण जो कि (केवल स्कंद पुराण को छोड़ कर) सब पुराणों से बड़ा है, पांच भागों में है अर्थात् (१) सृष्टि (२) भूमि (३) स्वर्ग (४) पाताल (५) उत्तर खंड।

---

*पाठकों को इन पुराणों के विषयों का पूरा वृत्तान्त विल्सन साहेब के विष्णुपुराण की भूमिका के पृष्ठ २७-८६ में मिलेगा, जहां से कि हमारा भी वृत्तान्त लिया गया है।

सृष्टि खंड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा आचार्य्यों और राजाओं की भी वंशावली दी है और तब अजमेर की पुष्कर झील की पवित्रता और तीर्थ स्थान होने का वृत्तान्त दिया है। भूमि खंड में १२७ अध्याय हैं जिनमें अधिकांश तीर्थों के सम्बन्ध की कथाएँ हैं और इनमें तीर्थ स्थान तथा सत्कार किए जाने योग्य पुरुष भी सम्मिलित हैं। इसके उपरान्त पृथ्वी का वर्णन है। स्वर्ग खण्ड में सब स्वर्गों के ऊपर विष्णु के वैकुण्ठ को माना है। उसमें भिन्न भिन्न जातियों और जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के आचरण के नियम तथा बहुत सी कथाएँ हैं जिनमें से अधिकांश आधुनिक समय की हैं। पाताल खण्ड हमें सर्पों के लोक में ले जाता है। वहां शेषनाग पुराण की कथा कहता है और इसके उपरान्त कृष्ण के बालचरित का वर्णन और विष्णु की पूजा का माहात्म्य कहा है। उत्तर खंड का जो कि सम्भवतः इस पुराण के अन्य भागों से पीछे के समय का बना हुआ है, रूप बहुत ही वैष्णव है। इसमें शिव ने अपनी पत्नी पार्वती से विष्णु की भक्ति, शरीर पर वैष्णव चिन्हों का लगाना, विष्णु के अवतारों की कथाएँ और विष्णु की मूर्ति का वर्णन किया है और फिर दोनों विष्णु की पूजा करके समाप्त करते हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि हिन्दू त्रैकत्व में केवल विष्णु ही सत्कार के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि इस साम्प्रदायिक विवाद का बहुत सा अंश मुसल्मानों के भारत विजय के पीछे जोड़ा गया है। इस पुराण के प्रारम्भ के भागों में भी भारतवर्ष में म्लेच्छों के होने का उल्लेख है और इसके सबसे अन्तिम भागों का सम्भव समय डाक्टर विलसन साहेब १५ वीं १६ वीं शताब्दी बतलाते हैं।

३ विष्णु पुराण के ६ भाग हैं। पहिले भाग में विष्णु और लक्ष्मी की उत्पत्ति तथा बहुत सी कथाएँ जिनमें ध्रुव और प्रह्लाद की कथाएँ भी सम्मिलित हैं वर्णन की गई हैं। दूसरे भाग में पृथ्वी, उसके सात द्वीप और सात समुद्र का वर्णन है तथा भारतवर्ष और नीचे के देशों, ग्रहमंडल, सूर्य्य, चन्द्रमा इत्यादि का वर्णन है। तीसरी पुस्तक में वेद तथा द्वापर युग में कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा उसके ४ विभाग किए जाने का वर्णन है। उसमें अट्ठारहों पुराणों के नाम, चारों जाति और चारो आश्रमों के धर्म्म, और गृहस्थी सम्बन्धी तथा सामाजिक रीतियों और श्राद्धों का भी वर्णन दिया है। अन्तिम अध्याय में बौद्धों और जैनियों की निन्दा है। चौथी पुस्तक में सूर्य्य और चन्द्र वंशों का इतिहास दिया है और अन्त में मगध के राजाओं की सूची दी है जिसे कि हम चौथे कांड तीसरे अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। पांचवे भाग में विशेषतः कृष्ण का, उसके बाल्यावस्था के खेलों का, गोपियों के साथ उसके विहारों का और उसके जीवन के भिन्न भिन्न कार्यों का विशेष रूप से वर्णन है। फिर छठें और अन्तिम भाग में यह वर्णन है कि विष्णु की भक्ति से सब जाति और सब मनुष्यों की मुक्ति हो सकती है और फिर योग तथा मुक्ति के अध्याय के उपरान्त यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

४ वायु पुराण जिसे कि शिव वा शैव पुराण भी कहते हैं चार भागों में बँटा है। पहिले भाग में सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों के प्रथम विकास का वर्णन है। दूसरे भाग में भी सृष्टि की उत्पत्ति का विषय है और उसमें भिन्न भिन्न कल्पों का वर्णन आचार्य्यों की वंशावली और सृष्टि तथा मन्वन्तरों की घटनाओं का वर्णन है जिसमें शिव की प्रशंसा

और कथाएँ मिली हैं, तीसरे भाग में भिन्न भिन्न प्राणियों का वर्णन है तथा सूर्य्य और चन्द्र वंशों और अन्य राजाओं का वृत्तान्त है। चौथे और अन्तिम भाग में योग का फल और शिव का माहात्म्य जिसके साथ कि योगियों का अन्त में लय हो जाता है लिखा है।

५ भागवत पुराण जिसे कि श्रीमद्भागवत भी कहते हैं सब पुराणों में सबसे पवित्र, कम से कम वैष्णवों की दृष्टि में, समझा जाता है। यह ग्रन्थ भी अन्य पुराणों की नाईं सृष्टि की उत्पत्ति के विषय से आरम्भ होता है। वासुदेव परम श्रेष्ठ कहा गया है। उसकी सृष्टि माया है। उसमें यह भी कहा गया है कि सब जाति के लोग और म्लेच्छ भी वासुदेव के भक्त हो सकते हैं, और यह शुद्ध वैष्णव सिद्धान्त है। तीसरे भाग में ब्रह्मा की उत्पत्ति, विष्णु के वराह अवतार और उसके सांख्य दर्शन के रचयिता कपिल के रूप में अवतार लेने का वर्णन है। चौथे और पांचवें भाग में ध्रुव और वेण पृथु और भारत की कथाएं दी हैं। छठे भाग में विष्णु के पूजन की शिक्षा देने के अभिप्राय से बहुत सी कथाएं दी हैं। सातवें भाग में प्रह्लाद की कथा है और आठवें में बहुत सी अन्य कथाएं हैं। नवें भाग में सूर्य्य और चन्द्र वंशों का वर्णन है, और दसवें भाग में जो कि इस ग्रन्थ का विशेष भाग है, पूर्णतया कृष्ण का जीवनचरित्र है। ग्यारहवें भाग में यादवों के नाश होने और कृष्ण की मृत्यु का वर्णन है और बारहवें तथा अन्तिम भाग में विष्णु पुराण की नाईं पीछे के समय के राजाओं की सूची है।

६ नारद पुराण। इस ग्रन्थ में विष्णु की अनेक प्रकार की स्तुति और हरि में भक्ति दिलाने वाली कथाएं हैं। बृहत्

नारदीय पुराण नामक एक दूसरे ग्रन्थ में भी विष्णु की ऐसी ही स्तुति, भिन्न भिन्न रीतियों को पालन करने की आज्ञाएं और उसके सम्मानार्थ व्रत रहने का उल्लेख वा भिन्न भिन्न कथाओं का वर्णन है। ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही थोड़े समय के हैं, और डाक्टर विल्सन साहब का यह अनुमान है कि ये वे मूल ग्रन्थ नहीं हैं, जिनका कि अट्ठारह पुराण की नामावली में वर्णन है।

७ मार्कण्डेय पुराण में केवल कथाएं हैं, वृत्र की मृत्यु, बलदेव की तपस्या, हरिश्चन्द्र की कथा और वशिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद की कथा के उपरान्त जन्म, मृत्यु, पाप और नर्क के विषय पर विचार किया गया है, उसके उपरान्त सृष्टि की उत्पत्ति और मन्वन्तरों का वर्णन है। एक भविष्यत मन्वन्तर के वृत्तान्त में दुर्गादेवी के कार्य्यों का वर्णन है, जो कि इस पुराण का विशेष अहंकार है, और चण्डी वा दुर्गा की पूजा का पाठ है। यह प्रसिद्ध चण्डी पाठ है, और यह आज तक भी हिन्दुओं के घरों और दुर्गा के मन्दिरों में पढ़ा जाता है।

८ अग्नि पुराण—जिसके आरम्भ के अध्यायों में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके उपरान्त धार्म्मिक क्रियाओं का वर्णन है, जिनमें से अधिकांश तान्त्रिक क्रियाएं हैं, और कुछ शिव पूजन की रीतियां हैं। इसमें पृथ्वी और विश्व के विषय के भी अध्याय हैं, इसके उपरान्त राजाओं के कर्तव्य, युद्ध की विद्या और कानून के विषय के अध्याय हैं, और उसके उपरान्त, वेदों और पुराणों का वृत्तान्त है। इसकी वंशावली बहुत ही सूक्ष्म है। औषधि, अलंकार, छन्द, शाखा और व्याकरण के वर्णन के उपरान्त यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

९ भविष्य पुराण तथा उसके अनुक्रम में भविष्योत्तर पुराण—इसमें से पहिले ग्रन्थ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, संस्कारों और भिन्न जातियों और आश्रमों के कर्तव्यों तथा भिन्न रीतियों का वर्णन है। इन विषयों ने ग्रन्थ का तिहाई भाग ले लिया है, और उसके उपरान्त कृष्ण, उसके पुत्र साम्ब, वशिष्ठ, नारद और व्यास में परस्पर सूर्य्य के प्रताप और यश के विषय की वार्ता है। "अन्तिम अध्यायों में शाकद्वीप वासी सूर्य्य के मौन पूजक मगलोगों के विषय में कुछ अद्भुत उल्लेख है। ग्रन्थकार ने मानो फारसी शब्द मग का प्रयोग करके ईरान के अग्नि पूजकों का भारतवर्ष के सूर्य्य पूजकों के साथ सम्बन्ध कर दिया है"*। भविष्य पुराण की नाईं भविष्योत्तर पुराण भी धर्म्म कर्म्मों के विषय की पुस्तक है।

१० ब्रह्मवैवर्त पुराण—यह चार भागों में है, जिसमें कि ब्रह्मा, देवी, गणेश और कृष्ण के चरित्रों का वर्णन है। परन्तु इस ग्रन्थ के मूल रूप में बहुत परिवर्तन होगया है और वर्तमान ग्रन्थ निस्सन्देह साम्प्रदायिक है, और उसमें सब देवताओं से कृष्ण को प्रधानता दी गई है। वर्त्तमान ग्रन्थ के अधिकांश भाग में वृन्दावन का वर्णन, कृष्ण की असंख्य स्तुतियां, और राधा और गोपियों के प्रेम की उकताने वाली कहानियां दी हैं।

११ लिंगपुराण—यह ग्रन्थ सृष्टि की उत्पत्ति तथा सृष्टि कर्ता शिव के वृत्तान्त से प्रारम्भ होता है। सृष्टि के अन्तर में एक बड़े प्रकाशमय लिंग का दर्शन होता है, और

* विष्णु के २४ अवतारों का विचार सम्भवतः गौतम बुद्ध के पहिले २४ बुद्धों के होने की कथा से लिया गया था।

ब्रह्मा और शिव उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। लिंग से वेदों की उत्पत्ति होती है, जिससे कि ब्रह्मा और शिव को ज्ञान प्राप्त होता है, और वे शिव के यश का गान करते हैं। इसके उपरान्त दूसरी सृष्टि होती है, और शिव अपने अट्ठाइसों अवतार का वर्णन करते हैं, (जो कि निस्सन्देह भागवत पुराण में कहे हुए विष्णु के २४ अवतारों के समान हैं) और इसके उपरान्त विश्व का वर्णन और कृष्ण के समय तक के राज्यवंशों का वर्णन है। फिर शिव के सम्बन्ध की कथाएं, विधान, स्तुतियां हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लिंग पुराण में भी "पुरा काल के निकृष्ट विधानों की भांति कोई वस्तु नहीं है। उसमें सब बातें निगूढ़ और धर्म्म सम्बन्धी हैं †"।

१२ बाराह पुराण—यह ग्रन्थ प्रायः समस्त विष्णु की पूजा और भक्ति के नियमों से भरा है, और दृष्टान्त के लिये उसमें कथाएं दी हैं। इसके अधिक अंश में वैष्णवों के भिन्न भिन्न तीर्थस्थानों का भी वर्णन है।

१३ स्कंदपुराण—यह ग्रन्थ जो कि सब पुराणों से अधिक बड़ा है संगठित रूप में नहीं है परन्तु खण्ड खण्ड में है जिसमें इस पुराण के जो ८११०० श्लोक कहे गए हैं उनसे अधिक हैं। काशी खण्ड में बनारस के शिव मन्दिरों का सूक्ष्म वर्णन है और उसमें पूजा की रीति और बहुत सी कथाएं भी दी हैं। उत्कल खण्ड में उड़ीसा और जगन्नाथ के माहात्म्य का वर्णन है और यह निस्सन्देह पीछे के समय के वैष्णव ग्रन्थकारों का जोड़ा हुआ है जिन्होंने कि इस प्रकार से एक प्रसिद्ध शिवपुराण में एक वैष्णव तीर्थ

† विलसन साहब के विष्णु पुराण की भूमिका देखो।

का वृत्तान्त मिला दिया है। इस मिले जुले पुराण में भिन्न भिन्न खण्डों के अतिरिक्त कई संहिता और बहुत से महात्म्य सम्मिलित हैं।

१४ वामन पुराण—इसमें विष्णु के बवने अवतार का वृत्तान्त है। इसमें लिङ्ग की पूजा का भी वर्णन है परन्तु इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष के तीर्थस्थानों की पवित्रता वर्णन करने का है और इस कारण इस पुराण को माहात्म्यों का एक अनुक्रम ही कहना चाहिए। दक्ष के यज्ञ, कामदेव के भस्म किए जाने, शिव और उमा के विवाह और कार्तिकेय के जन्म की कथा, बलि के प्रताप और कृष्ण का वामन अवतार लेकर उसे अधीन करना, ये सब विशेष स्थानों और तीर्थों को पवित्र गिने जाने के लिये लिखे गए हैं।

१५ कूर्म पुराण। वामन पुराण की भांति इस पुराण का नाम भी विष्णु के एक अवतार का है परन्तु फिर भी इसकी गणना शैवपुराण में है और इसके अधिक भाग में शिव और दुर्गा की पूजा का वर्णन है। इस पुराण के प्रथम भाग में सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के अवतार, कृष्ण के समय तक सूर्य्य और चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावली, विश्व और मन्वन्तरों का विषय है और इनके साथ महेश्वर की स्तुति और अनेक शैव कथाएं मिली हुई हैं। दूसरे भाग में ध्यान और वैदिक विधानों के द्वारा शिव के ज्ञान प्राप्त करने का विषय है।

१३ मत्स्यपुराण-यह ग्रंथ विष्णु के मत्स्य अवतार लेने की कथा से प्रारम्भ होता है। यह कथा निस्सन्देह सतपथ ब्राह्मण में दी हुई कथा का परिवर्धित रूपांतर है जिसकी कि ईसाइयों की प्राचीन धर्म्म पुस्तक के प्रलय और नोआ की

कथा से इतनी अद्भुत समानता है। इस पुराण में विष्णु ने मछली रूप धारण करके मनु को सब वस्तुओं को बीज के सहित एक नौका में प्रलय के जल से बचाया है। जिस समय मत्स्य में बंधी हुई यह नौका जल के ऊपर तैरती थी उस समय मनु ने मत्स्य से वार्तालाप किया है और उसने जो प्रश्न किए हैं तथा विष्णु ने उनका जो उत्तर दिया है वे ही इस पुराण के मुख्य अंश हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति राज्यवंशों और भिन्न भिन्न आश्रमों के कर्त्तव्य का क्रम से वर्णन है। इसके उपरान्त शिव के पार्वती के साथ विवाह करने और कार्तिकेय के जन्म की कथाएं हैं और उनमें वैष्णव कथाएं भी सम्मिलित कर दी गई हैं। फिर कुछ माहात्म्य दिए गए हैं जिनमें नर्मदा माहात्म्य है, और स्मृति और नीति तथा मूर्तियों के बनाने, भविष्यत के राजाओं और दान के विषय के अध्याय हैं।

१७ गरुड़पुराण—इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का संक्षेप वृत्तान्त है परन्तु उसका मुख्य विषय धार्मिक आचार, त्योहार और स्तुतियां, तांत्रिक रीति से ज्योतिष शास्त्र, हस्तसामुद्रिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र इत्यादि हैं। इस ग्रंथ के अन्तिम भाग में अन्त्येष्टि क्रिया के करने की रीतियों का वर्णन है। वर्त्तमान ग्रन्थ में गरुड़ के जन्म का कोई वर्णन नहीं है और यह सम्भव है कि मूल गरुड़पुराण अब हम लोगों को अप्राप्त हो।

१८ ब्रह्माण्डपुराण—स्कंद पुराण की नांई यह ग्रन्थ भी अब हम लोगों को संगठित रूप में नहीं मिलता वरन् वह खण्ड खण्ड में मिलता है और पीछे के समय के ग्रन्थकारों ने समय समय पर इस अप्राप्त मूल्य ग्रन्थ में भिन्न भिन्न स्वतन्त्र विषयों को सम्मिलित करने का लाभ उठाया है। आध्यात्म

रामायण नामक एक बड़ा विलक्षण ग्रन्थ ब्रह्माण्ड पुराण का एक अंश समझा जाता है।

अट्ठारहों बृहत् पुराणों के विषयों की उपरोक्त संक्षिप्त आलोचना से इन ग्रन्थों का ढंग यथेष्ट रीति से प्रगट होता है। ये अट्ठारहों मूलग्रन्थ पौराणिक काल में बनाए अथवा संकलित किए गए थे और जब अलबरुनी ११वीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया उस समय ये वर्तमान थे परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि उस समय से वे बहुत ही परिवर्तित और विस्तृत किए गए हैं विशेषतः शैव और वैष्णव ग्रन्थकारों के द्वारा जो कि अपने अपने धर्मों की प्रधानता स्थिर करने के लिये उत्सुक थे। पौराणिक काल में शिव सबसे अधिक प्रिय देवता था जैसा कि हमें उड़ीसा और अन्य प्रान्तों के इतिहासों से और पौराणिक काल के साहित्य से भी विदित होता है। कृष्ण जो कि कालिदास, भारवि, बाणभट्ट, भवभूति वा अन्य ग्रंथकारों से अधिक परिचित नहीं है, पीछे के समय में हिन्दुओं का सर्व प्रिय देवता हुआ। माघ और जयदेव ने ११ वीं और १२वीं शताब्दियों में उसके चरित्रों का वर्णन किया है और मुसल्मानों के राज्य के समस्त समय में कृष्ण निस्संदेह हिन्दुओं का सबसे अधिक प्रिय देवता था। अधिकांश पुराण जिनमें कृष्ण के प्रेम और विहारों का तथा तांत्रिक रीति के अनुसार शिव वा शक्ति की पूजा का वर्णन है, मुसल्मानों की विजय के उपरान्त की शताब्दियों के बने हुए जान पड़ते हैं। पुराणों में मुसल्मानों के विजय होने के उपरान्त इतना परिवर्तन होने के कारण ही वे पौराणिक समय में हिन्दू जीवन और आचरण के लिये अनिश्चित और अविश्वास योग्य हैं।

इन अट्ठारहों पुराणों के अतिरिक्त इतने ही उपपुराण भी कहे गए हैं परन्तु भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों ने इनकी जो सूची दी है उनमें भेद पाया जाता है। उपपुराण निस्संदेह पुराणों की अपेक्षा बहुत पीछे के समय के हैं और सम्भवतः वे सब मुसल्मानों की विजय के उपरान्त के बने हुवे हैं। उपपुराणों में सब से प्रसिद्ध कालिका पुराण है जिसमें शिव की पत्नी की पूजा का वर्णन है और वह मुख्यतः शाक्तग्रंथ है। उसमें दक्ष के यज्ञ और सती की मृत्यु का वर्णन है और उसके उपरान्त यह कहा गया है कि शिव ने अपनी स्त्री के मृत देह को समस्त संसार में घुमाया और इस शरीर के भिन्न भिन्न भाग भारतवर्ष के भिन्न भागों में पड़े और इस कारण ये स्थान पवित्र हो गए इन स्थानों में लिंग स्थापित किए गए जहां कि आज तक भी प्रति वर्ष लाखों यात्री जाते हैं। जो लोग वेद के सूत्रों का गान करते थे और जिन्होंने उपनिषदों की गूढ़ और उत्साहपूर्ण खोज को आरम्भ किया था उनके संतानों का अब ऐसी कल्पित कथाओं में विश्वास है और वे ऐसे धर्म्म विधानों को करते हैं।

३ तंत्र।

परन्तु मुसल्मानी राज्य का हिन्दू साहित्य हमारे साम्हने मनुष्यों की कल्पना और विश्वास का इससे भी अधिक अद्भुत रूपान्तर उपस्थित करता है। योग दर्शन ने अब अद्भुत साधनों के भिन्न रूप धारण किए थे जिनके द्वारा कि अमानुषिक शक्तियों के प्राप्त होने का विश्वास किया जाता था। हमें इसका प्रमाण भवभूति के ग्रन्थों में भी मिलता है जो कि आठवीं शताब्दियों में हुआ है परन्तु आगे चलकर इसने और भी विलक्षण रूप धारण किया।

तंत्र के ग्रन्थों में जो कि विदेशी राज्य में हिन्दुओं की अवनति के सबसे अन्तिम काल के बने हुए हैं हमें दैविक शक्तियों को प्राप्त करने के लिये अन्धकारमय कठोर और निर्लज्ज साधनों के वर्णन मिलते हैं। और एक ढिठाई की कथा के द्वारा ये दूषित मस्तिष्क की अद्भुत कल्पनाएं स्वयं शिव के लिये निरूपित की गई हैं। तन्त्रों की संख्या ६४ कही गई है, और हमने इनमें से कुछ तन्त्रों को देखा है जो कि कलकत्ते में प्रकाशित हुए हैं।

जहां अज्ञान है वहीं सरल विश्वास है और दुर्बलता प्रबलता का पीछा करती है। और जब मिथ्या विश्वास की अज्ञानता और वृद्धावस्था की निर्बलता अन्तिम सीमा पर पहुंच गई थी तो लोगों ने हानिकारक साधनों और अपवित्र क्रियाओं के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करना चाहा जिसे कि ईश्वर ने केवल हमारे धार्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियों के स्वतन्त्र और निर्दोषी अभ्यास से प्राप्त करने योग्य बनाया है। इतिहास जानने वाले के लिये तंत्र ग्रन्थ, हिन्दू विचार का कोई विशेष रूप प्रगट नहीं करते वरन् उनसे हिन्दू मन का रोग ग्रस्त होना विदित होता है जो कि केवल उसी अवस्था में सम्भव है, जब कि जातीय जीवन नहीं रह जाता, जब सब राजनैतिक ज्ञान का लोप हो जाता है, और विद्या का प्रदीप ठण्ढा हो जाता है।

अध्याय ८।

जाति।

हम चौथे कांड में देख चुके हैं कि भारतवर्ष की बृहद् आर्य जाति (पुजेरियों और राजाओं को छोड़ कर) बौद्धकाल तक एक ही संयुक्त जाति थी और वह आजकल के व्यवसाय की जातियों में नहीं बँटी थी। पौराणिक काल में जातियों के फूटने की प्रवृत्ति सबसे अधिक थी और हमें भिन्न भिन्न व्यवसाय करने वालों के एक दूसरे से स्पष्ट जुदे उल्लेख मिलते हैं। परन्तु फिर भी जो प्रमाण अब मिलते हैं उनको पक्षपात रहित दृष्टि से देखने से सच्चे पाठकों को विश्वास हो जायगा कि आजकल की व्यवसाय की जाति पौराणिक समय में भी पूर्णतया नहीं बनी थी और लोग तब तक भी एक ही संयुक्त जाति अर्थात् वैश्य जाति में रहकर भिन्न भिन्न व्यवसाय करते थे। जाति का भिन्न भिन्न व्यवसाय की जातियों में पूरी तरह से बँटना मुसल्मानों के भारत विजय तथा हिन्दुओं के जातीय जीवन की समाप्ति के उपरान्त हुआ।

यह कहने की कठिनता से आवश्यकता है कि हम इस अध्याय में केवल याज्ञवल्क्य तथा एक वा दो अन्य धर्म्म-शास्त्रों का उल्लेख करेंगे जो कि पौराणिक काल के हैं। मुसल्मानों के विजय के उपरान्त के बने हुये अथवा पूर्णतया फिर से लिखे गये धर्म्मशास्त्रों पर हम निर्भयता से भरोसा नहीं कर सकते।

पौराणिक काल के सब धर्म्मशास्त्रों में चार बड़ी जातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख है। इनमें से पहिली तीनों जातियां उस समय तक भी धार्म्मिक विधानों

को करने तथा वेद पढ़ने की अधिकारी थीं। इनके कार्य्य क्रमात् ये थे अर्थात् वेद पढ़ना, शस्त्र चलाने का अभ्यास करना और पशु चराना। और उनके जीविका निर्वाह के विषय में ब्राह्मणों के लिये दूसरों का यज्ञ करना और दान ग्रहण करना, क्षत्रिय के लिये लोगों की रक्षा करना और वैश्य के लिये खेती करना, गौ रखना, व्यापार करना, द्रव्य उधार देना और बीज बोना था (विष्णु, २)।

शूद्र का धर्म्म अन्य जातियों की सेवा करना था और उसकी जीविकावृत्ति भिन्न भिन्न प्रकार के शिल्प द्वारा कही गई है (विष्णु २) वह वाणिज्य भी कर सकता था, (याज्ञ-वल्क्य, १,१२०) और निस्सन्देह बहुत से दूसरे व्यवसाय भी करता था।

याज्ञवल्क्य भी भिन्न भिन्न मुख्य जातियों के पुरुषों और स्त्रियों के द्वारा मिश्रित जातियों की उत्पत्ति की प्राचीन कथा लिखता है, उसने जिन १३ मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है वे ये हैं—

पिता	माता	जाति
ब्राह्मण	क्षत्रिय	मूर्द्धाभिशक्ति
,,	वैश्य	अम्बष्ठ
,,	शूद्र	निषाद वा पारसेव
क्षत्रिय	वैश्य	माहिश्य
,,	शूद्र	उग्र
वैश्य	,,	करन
क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	,,	वैदेहक
शूद्र	,,	चाण्डाल

पिता	माता	जाति
वैश्य	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	,,	क्षत्री
,,	वैश्य	आयोगव
माहिश्य	करन	रथकार

(याज्ञवल्क्य १,९१-९५)

अब एक बार पुनः इस बात को दिखलाने की कठिनता से आश्यकता है कि ऊपर जो मिश्रित जातियां कही गई हैं, वे भारतवर्ष की आज कल की व्यवसाय करने वाली जातियां नहीं हैं, वरन उनमें से अधिकांश उन आदि वासी जातियों के नाम हैं, जो धीरे धीरे हिन्दू रीति और सभ्यता को ग्रहण कर रही थीं और पूर्णतया शूद्र जाति में सम्मिलित नहीं हुई थीं। यह विदित होगा कि याज्ञवल्क्य को इन जातियों के धीरे धीरे हिन्दुओं में मिलने का कुछ विचार था क्योंकि उपरोक्त सूची के उपरान्त ही वह लिखता है कि सातवें अथवा पांचवें युग में भी कर्म्मों के अनुसार नीच जाति उच्च पद को प्राप्त कर सकती है (१,९६)।

अतः इन मिश्रित जातियों से हमें आज कल की व्यवसायकरने वाली जातियों की उत्पत्ति का पता नहीं लगता। इन आधुनिक जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? पौराणिक धर्म्मशास्त्रों से इस विषय का कुछ पता लगेगा।

मनु के ग्रन्थ में कायस्थों का कोई उल्लेख नहीं क्योंकि बौद्धकाल में प्रत्येक न्यायालय और कार्यालय में लेखकों के नियत करने की रीति साधारणतः प्रचलित नहीं थी। पौराणिक काल में लेखक लोग बहुत और प्रभाव शाली हो गए थे, और वे न्यायालय में न्यायाधीश के पास कार्य्य करते

थे, दस्तावेजों पर साक्षी करते थे और कानून के सम्बन्ध का सब लिखने पढ़ने का कार्य्य करते थे । वे बहुधा इससे भी ऊँचे कार्य्यों में नियत किए जाते थे और राजा लोग उन्हें आय का प्रबन्ध करने, कर उगाहने, राज्य का हिसाब रखने और उन सब कार्यों के करने के लिये नियत करते थे जो कि आज कल कोश विभाग के मंत्री को करने पड़ते हैं । मृच्छकटि नामक एक नाटक में हम एक कायस्थ अर्थात् दस्तावेज रखने वाले को न्यायालय में न्यायाधीश की सेवा में पाते हैं और कल्हण ने अपने काश्मीर के इतिहास में कायस्थों का राजाओं के हिसाब रखने वालों, कर उगाहने वालों, और कोषाध्यक्ष की नाईं बहुधा उल्लेख किया है । वे शीघ्र ही ब्राह्मणों के कोप में पड़े क्योंकि वे सभों से कर उगाहते थे किसी को नहीं छोड़ते थे और इस कारण स्वयं कल्हण ने भी बहुत कड़े ही शब्दों में उनकी निन्दा की है । कर देने वाले पुजेरियों के इन क्षमायोग्य क्रोध को छोड़कर हम उनके अनुगृहीत हैं कि पौराणिक काल के ग्रन्थों के वाक्यों से हमें विदित होता है कि भारतवर्ष में इस व्यवसाय करने वालों की किस भांति उत्पत्ति हुई और उनके मुख्य कार्य्य क्या थे । यह सम्भव जान पड़ता है कि इस जाति के लोग मुख्यतः सर्व साधारण लोगों अर्थात् क्षत्रियों और वैश्यों में से लिए गए । ब्राह्मण लोग कठिनता से ऐसे कार्य्यों के करने का अपमान सहन कर सकते थे और शूद्रों में उनको करने की योग्यता नहीं थी * । मुसल्मानों की विजय के उपरान्त

* इस अध्याय में तथा अन्यत्र हमने कायस्थों और वैद्यों की उत्पत्ति प्राचीन क्षत्रियों और वैश्यों से दिखलाई है । परन्तु कई वर्षों से इस सिद्धान्त का विरोध हो रहा है और कायस्थों के क्षत्रिय होने के प्रमाण दिखलाए गए हैं । हम इस वाद विवाद में प्रवृत्त

इस व्यवसाय के करने वालों की एक जुदी और अविचल जाति हो गई।

याज्ञवल्क्य कहता है (१,३३६) कि राजा को छलने वालों, चोरों, उपद्रवी लोगों, डांकुओं इत्यादि से और विशेषतः कायस्थों से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। यहां यदि हम कायस्थों से आधुनिक जाति का तात्पर्य समझें तो इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि किसी विशेष जाति की रक्षा किए जाने की आवश्यकता का कोई कारण नहीं देख पड़ता। इसके विरुद्ध यदि हम इस शब्द का तात्पर्य लोभी कर उगाहने वालों से समझें, तो हम उस ग्रन्थकार के विचारों को समझ सकते हैं, जिसने कि उनकी चोरों और डांकुओं में गणना की है। ऐसा सत्कार आज तक भी कर उगाहने वालों का किया जाता है। और यह स्पष्ट है कि यद्यपि याज्ञवल्क्य कायस्थों का उल्लेख करता है परन्तु उनका अपनी मिश्रित जातियों की सूची में वर्णन नहीं

नहीं हुए हैं और हम इस विषय में कोई सम्मति देने में अयोग्य हैं। हमारा मुख्य कथन यह है कि आधुनिक कायस्थ और वैद्य लोग शूद्र नहीं हैं और न उनकी दो जाति के सम्मेल से उत्पत्ति हुई है। वे भारतवर्ष के प्राचीन आर्यों की सन्तान हैं और केवल एक जुदा व्यवसाय ग्रहण करने के कारण उनकी जुदी जुदी जातियां बन गई हैं। यह सम्भव है कि कायस्थ लोग केवल क्षत्रिय जाति से ही लिए गए हों और क्षत्रिय राजाओं के धनहीन भाइयों ने राजन्यायालय में हिसाब लिखने और दस्तावेज रखने का कार्य्य प्रसन्नता से स्वीकार किया हो। हमें यह विदित किया गया है कि उत्तरी भारतवर्ष में आज तक भी कायस्थों में सम्बन्धियों की मृत्यु होने पर अशौच का समय उतना नहीं है जितना कि क्षत्रियों के लिये है।

करता। इससे यह प्रमाणित होता है कि पौराणिक काल में कायस्थ केवल एक व्यवसाय के लोग थे, उनकी कोई जुदी जाति नहीं थी।

अब हम विष्णु पुराण से उद्धृत करेंगे। उसमें दस्तावेजों के प्रसिद्ध अध्याय में तीन प्रकार के दस्तावेज कहे गए हैं अर्थात् (१) जिन पर राजा के हस्ताक्षर हों जो कि आजकल के रजिस्टरी किए हुए दस्तावेज के काम देते थे (२) वे जिन पर अन्य शाक्षियों के हस्ताक्षर हों और (३) वे जिन पर किसी की साक्षी न हो। इसके आगे ग्रन्थकार कहता है कि "दस्तावेज पर राजा की साक्षी तब कही जाती है जब कि वह राजदर्बार में राजा के नियत किए हुए कायस्थ के द्वारा लिखी जाय और उसमें दर्बार के प्रधान के हस्ताक्षर हों।" यहां भी यदि हम कायस्थ से किसी जाति को समझें तो इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। डाक्टर जौली साहेब ने इस शब्द का अनुवाद केवल "लेखक" किया है और यह ठीक है। पौराणिक काल में कायस्थ का अर्थ ठीक वही था जो कि आज कल मोहर्रिर का अर्थ है।

अब हमें वैद्यों के विषय में लिखना है। धर्म्म-शास्त्रों ने उनके साथ भी कायस्थों से अच्छा व्यवहार नहीं किया। यदि याज्ञवल्क्य ने कायस्थों की गणना चोरों और डाकुओं में की है तो उसने वैद्यों की गणना भी चोरों वेश्याओं इत्यादि के साथ की है जिनका कि भोजन ग्रहण नहीं किया जा सकता [१,१६२]। परन्तु जिस बात को हम स्पष्ट रीति से दिखलाया चाहते हैं वह यह है कि याज्ञवल्क्य ने वैद्यों को भी अपनी मिश्रित जाति की सूची में सम्मिलित नहीं किया है और इससे यह प्रगट होता है

कि पौराणिक काल में वैद्यों का भी एक व्यवसाय था कोई जाति नहीं थी। आधुनिक जाति भेद का समर्थन करनेवाले प्राचीन सूत्रकारों तथा मनु और याज्ञवल्क्य के अम्बक जाति से आधुनिक वैद्यों को मिलाने का उद्योग करते हैं। वशिष्ठ ने अम्बष्ठों की उत्पत्ति ब्राह्मणों और क्षत्रियों के संयोग से लिखी है। और मनु तथा याज्ञवल्क्य ने उनका जन्म ब्राह्मणों और वैश्यों से लिखा है। और मनु यह भी कहता है कि अम्बष्ठ लोग औषधि का कार्य करते थे [१०,४७]। इसी निर्बल प्रमाण पर आधुनिक वैद्य लोग इसी अम्बष्ठ जाति से मिलाए गए हैं मानों ब्राह्मणों के अपने से नीच जाति की कन्याओं का पीछा करने और उन्हे ग्रहण करने के पहिले आर्य्यलोग वैद्यगी करते ही नहीं थे, और मानो इस मिश्रित जाति की उत्पत्ति के पहिले आर्य्य हिन्दुओं को वैद्यक शास्त्र अविदित था। आज कल के पाठक लोग ऐसी कल्पित कथाओं को छोड़कर बिना सन्देह के इस बात को स्वीकार करेंगे कि आधुनिक वैद्य लोग प्राचीन आर्य्य वैश्यों से उत्पन्न हुए हैं और एक जुदा व्यवसाय करने के कारण उनकी एक जुदी जाति बन गई है। और कायस्थों की नांई वैद्यों के विषय में भी यह सम्भव है कि बंगाल के सेन वंशी राजाओं की नांई राजाओं को क्षत्रिय जातियों की सन्तान भी आधुनिक व्यवसाय की जाति में सम्मिलित हो गई हों।

परन्तु यद्यपि पौराणिक काल में जुदे जुदे व्यवसाय करने वालों की जुदी जुदी जातियां नहीं हो गई थीं तथापि भिन्न भिन्न व्यवसाय अपमान की दृष्टि से देखे जाने लगे थे जैसा कि हम कायस्थों और वैद्यों के विषय में दिखला चुके हैं। जातिभेद का जिसने कि पुजेरियों के अधिकार और

स्वत्वों को अनुचित रीति से बढ़ा दिया था पुजेरियों के सिवाय अन्य सचाई के व्यापारों और व्यवसायों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। हमने मनु के ग्रंथों में इस बात को देखा है और याज्ञवल्क्य में और भी अधिक देखते हैं। एक वाक्य में जिसका कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं (१, १६०-१६५) उसने बहुत से व्यवसाय करना अपवित्र कहा है और वैद्यों, सोनारों, लोहारों, तांतियों, रँगरेजों, शस्त्र बनाने वालों और तेलियों की गणना चोरों और वेश्याओं के साथ की है। इस प्रकार जातिभेद का अपने पीछे के रूप में दो फल हुआ जैसा कि हमारे पाठक लोग ऊपर के सदृश वाक्यों से देखेंगे। उसने जाति में भेद कर के परस्पर के क्लेश को उत्पन्न किया और, उसने ब्राह्मणों के उच्च पद देने के लिये अन्य जातियों को नीचा बनाया।

अध्याय ६।

हिन्दुओं और जैनियों की गृह और मूर्ति निर्माण विद्या।

हम पहिले अध्याय में भारतवर्ष में बौद्धों की गृह निर्माण विद्या के विषय में लिख चुके हैं। बौद्धों की गृह निर्माण विद्या के इतिहास की पांचवीं शताब्दी में समाप्ति होती है और पांच सौ ईस्वी के पीछे के बहुत ही थोड़े नमूने हम लोगों को मिलते हैं। इसके विरुद्ध हिन्दू मन्दिरों के वर्तमान नमूनों को देखने से विदित होता है कि वे इसी समय में प्रारम्भ होते हैं और भारतवर्ष के मुसलमानी विजय के बहुत उपरान्त तक जारी रहते हैं। ये घटनाएं जो सारे भारतवर्ष

में चिरस्थायी पत्थरों पर लिखी हुई हैं उस विभाग का समर्थन करती हैं जो कि हमने बौद्ध काल और पौराणिक काल का किया है।

उत्तरी भारतवर्ष का ढंग।

तब हिन्दू मन्दिरों के सब से प्राचीन नमूनों का समय ५०० ईस्वी से प्रारम्भ होता है और ये नमूने अपने शुद्ध रूप में बहुतायत से उड़ीसा में मिलते हैं। जो मनुष्य उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर में गया है उसे हिन्दू मन्दिरों का बहुत अधिक वृत्तान्त विदित है जो कि कई पृष्ठ के वर्णन से भी नहीं विदित हो सकता।

उत्तरी भारतवर्ष के मन्दिरों की बनावट में कुछ विशेष बातें हैं जो कि सारे उत्तरी भारतवर्ष की सब प्राचीन इमारतों में देखने में आती हैं। विमान के ऊँचे बुर्ज का आकार वक्रीय होता है और उसके सिरे पर आमलक होता है जो कि इस नाम के किसी फल के आकार का समझा जाता है। उनमें खण्डों के होने का कोई चिन्ह नहीं दीख पड़ता और उनमें कहीं पर खम्भे नहीं हैं। उसके द्वारा पर सुण्डाकार सिरा होता है जिसमें कि बहुत सी कार्निस होती हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब ने इस बात को दिखलाया है कि बनारस के आज कल के मन्दिरों के रूप (और बनारस का कोई वर्तमान मन्दिर दो शताब्दियों से प्राचीन नहीं है) में परिवर्तन होने पर भी उनमें वे ही विशेषता हैं जो कि बारहवीं शताब्दी के बने हुए उड़ीसा के विमानों में पाई जाती है। *

* कदाचित पाठकों को यह सूचना देनी अनावश्यक नहीं है कि इस अध्याय की सब बातें डाक्टर फर्ग्यूसन साहब के उत्तम और

कहा जाता है कि भुवनेश्वर में सैकड़ों मन्दिर बनाए गए थे और उनमें से बहुत से अबतक भी वर्तमान हैं और दर्शकों को आश्चर्यित करते हैं। उनमें से सबसे प्रसिद्ध वह है जो भुवनेश्वर का बड़ा मन्दिर कहलाता है और वह सन् ६१७ और ६५७ ईस्वी के बीच का बना है। उसकी पहिली इमारत जिसमें कि विमान और द्वार सम्मिलित हैं १६० फीट लम्बी थी और उसके उपरान्त १२ वीं शताब्दी में उसमें नाट मन्दिर और भोग मन्दिर बनवाए गए। विमान के भीतर का भाग ६६ फीट का एक समचतुर्भुज है और वह १८० फीट ऊंचा है। यह समस्त इमारत पत्थर की है। इसके बाहर का भाग बहुत ही उत्तम खुदाई के काम से ढका हुआ है। प्रत्येक पत्थर पर एक एक प्रकार की खुदाई है और यह अनुमान किया जाता है कि स्वयं इस इमारत की बनवाई में जितना व्यय हुआ होगा उसका तिगुना उसकी खुदाई में लगा होगा। "बहुत से लोगों का यह विचार होगा कि इसकी चौगुनी इमारत का बड़ा और अधिक प्रभाव पड़ता। परन्तु हिन्दू लोगों ने इस विषय को इस दृष्टि से कभी नहीं देखा होगा। उन लोगों का यह विचार था कि प्रत्येक बात में बहुत ही अधिक परिश्रम करने से वे अपने मन्दिर को अपने देवता के अधिक योग्य बना सकते थे और चाहे उनका विचार सत्य हो वा असत्य इसका फल निस्संदेह अद्भुत रीति से सुन्दर हुआ। मूर्ति निर्माण का काम बहुत ही उच्च श्रेणी का और बड़े ही सुन्दर नमूने का है।" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४२२)

पूर्ण ग्रन्थ "हिस्टरी आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्चिटेकचर" से ली गई हैं]।

बनारस का प्रसिद्ध काला मन्दिर जिसका कि अब केवल बरामदा रह गया है १२४१ ई० का बना हुआ समझा जाता है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब अच्छे प्रमाणों के साथ इस बात का समर्थन करते हैं कि वह ८५० वा ८७५ में बना था। उसकी गच ४० फीट की चौकोर है और उसकी छत भीतर की ओर ढालुआं होते हुए २० फीट तक होगई है और वहां उसपर चौरस पत्थर की छत पाट दी गई है जो कि लोहे की २१ वा २३ फीट लम्बी धरनों पर है। और उससे हिन्दुओं की लोहे को ढालने की विद्या प्रगट होती है जो कि अब उनमें नहीं रही है। इसके बाहरी भाग में "बारहों कोनों तथा मोड़ों पर बहुत ही सुन्दर चित्र विचित्र खुदाई का काम है और ईंटे ऐसी सुन्दरता और विचार के साथ लगाई गई हैं जिसकी बराबरी कोई सच्चा यवन कठिनता से कर सकता था।" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४२८)

इसके उपरान्त हमारे साम्हने पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर है, जो कि उड़ीसा में वैष्णव धर्म्म के शैव धर्म्म को दवा लेने के उपरान्त बना था। उससे केवल धर्म्म का परिवर्तन ही प्रगट नहीं होता वरन हिन्दू धर्म्म में अधमता का आजाना भी प्रगट होता है जो कि सन् ११७४ ई० की इस इमारत पर अंकित है। "परन्तु इस मन्दिर की केवल बनावट ही से नहीं वरन उसके आकार, प्रकार और प्रत्येक बातों से विदित होता है कि इस शिल्प को कम से कम इस प्रान्त में वह हानिकारक धक्का पहुंचा था जिससे कि वह अपनी पहिली अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४३०)

इस मन्दिर का बिमान बीच में ८५ फीट लम्बा है, और वह १९२ फीट की ऊँचाई तक बढा हुआ है, बरामदे

को लेकर उसकी पूरी लम्बाई १५५ फीट है और नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर को लेकर, भुवनेश्वर के बड़े मन्दिर की नाईं वह ३०० फीट लम्बा है।

बुन्देलखण्ड के प्रान्त में प्राचीन हिन्दू मन्दिर अधिकता से सम्भवतः उड़ीसा को छोड़ कर उत्तरी भारतवर्ष के और सब स्थानों की अपेक्षा बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। बुन्देलखण्ड के खजुराहो स्थान में लगभग ३० बड़े बड़े मन्दिर हैं जिनमें से कि प्रायः सब ६५० ई० से लेकर १०५० ई० के भीतर के हैं, जो कि हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि राजकीय उलट फेर के अन्धकार मय समय के उपरान्त राजपूतों की प्रबलता की पहिली शताब्दी है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब के ग्रन्थ में इनमें से एक मन्दिर का एक उत्तम चित्र दिया हुआ है जिससे कि उड़ीसा की बनावट के परिवर्तन प्रगट होते हैं। एक ऊंचे विमान के चारों ओर बहुत से छोटे छोटे विमान उसको घेरे हुए हैं। उसकी कुर्सी ऊंची है और उसके चारों ओर मूर्तियों की खुदी हुई तीन पंक्तियां हैं। जेनरल कनिंघाम साहब ने इनमें ८७२ मूर्तियां गिनी हैं जिनमें कि बहुतायत से बेल बूटे का काम भी मिला हुआ है। इस मन्दिर की ऊंचाई ११६ फीट अर्थात् चबूतरे के ऊपर ८८ फीट है और उसके बाहर का रूप बहुत ही भड़कीला और सजा हुआ है।

भूपाल राज्य में ११ वीं शताब्दी के एक मन्दिर का पूरा नमूना है। उसे मालवा के किसी राजा ने सन् १०६० ई० में बनवाया था। विमान बहुत ही सुन्दर और भड़कीले अमलक के चार चौरस बंद से सुसज्जित है और उसके चारों ओर के अमलक पर भी बहुत ही अच्छी नकाशी का काम

है। मन्दिर की नकाशी में सर्वत्र यथार्थता और उत्तमता पाई जाती है।

अब हम राजपुताने की ओर झुकेंगे। चित्तौड़ के प्रसिद्ध खंडहरों में हमने कुंभु की रानी के बनवाए हुए मन्दिरों को देखा है। कुंभ एक बड़ा विजयी राजा था और वह जैन धर्म्मावलम्बी था। उसने सद्री में जैन मन्दिर और चित्तौर में विजय का संगमर्मर का खम्भा बनवाया है। उसकी रानी मीराबाई एक कट्टर हिन्दू जान पड़ती है और उसने दो मन्दिर बनवाये हैं (१४१८-१४६८) जो कि अब खंडहर हो गए हैं और उनमें वृक्ष आदि उग आये हैं। विमान और बरामदे दोनों ही का ढंग निस्सन्देह उड़ीसा के मन्दिरों का सा है। मन्दिर के चारों ओर खम्भों की पंक्तियां हैं और चारों कोने पर चार छोटी छोटी कोठरियां हैं और ऐसा ही द्वार पर भी है।

महाराष्ट्र देश में भी प्राचीन मन्दिरों के नमूनों में न इतना उत्तम नकाशी का काम है और न वे इतने अधिक हैं जितने कि उड़ीसा में। महाराष्ट्र मन्दिरों में मनोरञ्जक बात केवल यह है कि वहां उड़ीसा वा उत्तरी भारतवर्ष के ढंग के द्रविड़ अथवा दक्षिणी भारतवर्ष के ढंग पर प्रभुत्व पाने के लिये यत्न किया गया है। मरहठा लोग द्राविड़ जाति के हैं परन्तु आर्य्यों के साथ उनके संसर्ग ने तथा उनमें आर्य्य सभ्यता के प्रचार ने उन्हें आर्य्यों के अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष के ढंग को ग्रहण करने के लिये उत्तेजित किया। इमारतों में दोनों ढंगों के चिन्ह देख पड़ते हैं।

जब कि उड़ीसा, बुंदेलखंड, मालवा, महाराष्ट्र, और राजपूताना में प्राचीन मन्दिरों के नमूने इतनी अधिकता से

मिलते हैं तो वे स्वयं आर्यों के निवासस्थान अर्थात् गंगा और जमुना की घाटी में इतने अप्राप्त क्यों हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है। बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों ने गंगा और यमुना की घाटियों का विजय किया और उन्होंने केवल उस समय के प्राचीन मन्दिरों को तोड़वा कर उनके पत्थरों से मसजिद् और मीनार ही नहीं बनवाये वरन् मन्दिरों के निर्माण की उन्नति को भी रोक दिया। राजनैतिक जीवन के लोप हो जाने पर शिल्प की उन्नति सम्भव नहीं है और जो दुर्बल उद्योग देखने में आ भी सकते थे उनको कट्टर मुसलमानों ने रोक दिया। परन्तु हिन्दुओं की स्वतंत्रता अबतक भी राजपूताना, महाराष्ट्र, मालवा, बुन्देलखंड और उड़ीसा में रह गई थी और यही कारण है कि इन प्रान्तों में हम प्राचीन मन्दिर बचे हुये और नए मन्दिर बने हुये पाते हैं।

सम्राट अकबर के समय में मानसिंह ने वृन्दावन में एक बड़ा मन्दिर बनवाया था परन्तु कहा जाता है कि कट्टर औरङ्गजेब की आँखें इस मन्दिर के ऊंचे सिरे को न देख सकीं और उसने इस मन्दिर को गिरवा डाला। इस मन्दिर का जो भाग शेष है और जिसे हमारी अंग्रेजी सरकार ने अंशतः बनवा दिया है उसे वृन्दावन में जानेवाले प्रत्येक यात्री ने देखा होगा।

मन्दिरों का निर्माण अब तक भी उड़ीसा के पुराने ढंग के अनुसार होता था, यद्यपि उसमें बहुत परिवर्तन हो गये थे। उन्होंने नये मुसल्मानी ढंग को भी ग्रहण किया था। यह बात बनारस के आधुनिक मन्दिरों में यथा विश्वेश्वर के मन्दिर में देखने में आती है। उड़ीसा के मन्दिरों का विमान छोटा कर दिया गया है और बीच में विमान के चारों ओर बहुत

से छोटे छोटे विमान बनाये गये हैं और आगे के बरामदे में उड़ीसा की शुंडाकार छत्त के स्थान पर मुसल्मानी ढंग का गुम्बज है जोकि बहुत ही सुन्दर है परन्तु मन्दिर की बनावट के मेल में नहीं है। बंगाल में लोगों के छाये हुये झोपड़ों की सुन्दर झुकी हुई छत्तों से एक नई सुन्दरता ली गई है। बंगाल में पत्थर के मन्दिर प्रायः नहीं हैं परन्तु ईंटों के शिवालय बनते हैं जिनकी छत्त छाए हुए झोपड़ों की नाई सुन्दरता से झुकी हुई होती हैं और जिनकी दीवारें कहीं कहीं खपरे के उच्चश्रेणी के काम से ढकी हुई होती हैं, इन मन्दिरों के नोकीले मेहराब मुसल्मानी ढंग से लिए गए हैं यद्यपि बंगाल के आधुनिक शिवालयों में उत्तरी भारतवर्ष के ढंग से इतना अन्तर है जितना कि भली भांति विचारा जा सकता है।

उत्तरी भारतवर्ष की जैन इमारतों ने उड़ीसा के विमान के ढंग को ग्रहण किया परन्तु काल पाकर उससे सुन्दर मुसल्मानी गुम्बज का भी आश्रय लिया। मन्दिरों के समूह बनाने की चाल अन्य धर्म के लोगों की अपेक्षा जैनियों में बहुत अधिक है। सामान्य श्रेणी के धनाढ्य लोग प्रत्येक शताब्दी में मन्दिर पर मन्दिर बनवाते हैं और यद्यपि उनके प्रत्येक मन्दिर में राजाओं की आज्ञा से बने हुए हिन्दू मन्दिरों की शान नहीं पाई जाती तथापि कुछ समय में मन्दिरों के समूह किसी पहाड़ी वा तीर्थ स्थान को मन्दिरों के नगर में परिवर्त्तित कर देते हैं। ऐसे ही गुजरात में पलीताने के मन्दिर हैं जिनमें से कुछ ११ वीं शताब्दी के बने हुए प्राचीन हैं और उनमें से सबसे पीछे के केवल वर्त्तमान शताब्दी के बने हैं। ये सैकड़ों मन्दिर विस्तृत पहाड़ियों की चोटियों और उनके

बीच की घाटी को ढके हुए हैं और इन मन्दिरों के पूरे समूह का साधारण प्रभाव बहुत पड़ता है ।

गिरनार भारतवर्ष के इतिहास में एक प्रसिद्ध स्थान है । प्रतापी अशोक ने यहां अपनी सूचनाओं की एक प्रति खुदवाई थी और शाह तथा गुप्त वंश के राजाओं ने अपने अपने शिलालेख खुदवाए थे । यहां झुण्ड के झुण्ड जैन मन्दिर १० वीं शताब्दी से बनवाए गए हैं और उनमें से एक तेजपाल और वस्तुपाल का बनवाया है । गिरनार की पहाड़ी के निकट ही सोमनाथ का प्राचीन मन्दिर था जिसे कि महमूद ग़ज़नवी ने नष्ट कर दिया ।

परन्तु जैन इमारतों की नाक आबू के दो अद्वितीय मन्दिर हैं । भारतवर्ष के मन्दिरों में केवल वे ही सम्पूर्ण सफेद संगमर्मर के बने हुए हैं जो कि ३०० मील से अधिक दूर से कटवाकर लाए गए होंगे । इनमें से एक मन्दिर को विमल शाह ने लगभग १०३२ ईस्वी में बनवाया था और दूसरे को जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तेजपाल और वस्तुपाल ने ११९७ और १२४७ के बीच में बनवाया था । इसका बरामदा सुन्दर नकाशीदार खम्भों पर है और गुम्बज के भीतर की ओर सुन्दर और उत्तम नकाशी का काम है जो कि भारतवर्ष में अद्वितीय है ।

द्रविड़ ढंग ।

अब हम दक्षिणी भारतवर्ष अर्थात् द्रविड के ढंग का वर्णन करेंगे जो कि उत्तरी ढंग से बिलकुल भिन्न है । एक मोटे हिसाब से कृष्णा नदी के दक्षिण के प्रायःद्वीप की इमारतें इसी ढंग की बनी हुई हैं ।

बौद्ध इमारतों और उत्तरी भारतवर्ष की इमारतों के ढंग में कोई सम्बन्ध नहीं पाया गया है। उड़ीसा के सबसे प्राचीन मन्दिरों में बौद्ध ढंग के कोई चिन्ह नहीं मिलते। उनमें से सबसे प्राचीन मन्दिर बनावट में अर्थात् ढांचे और कारीगरी में सब प्रकार पूर्ण हैं और इस ढंग के इतिहास का इसके पहिले कोई पता नहीं चलता।

परन्तु द्रविड़ की अर्थात् पश्चिमी ढंग की उत्पत्ति बौद्धों के गुफा खोदने के ढंग से दिखलाई गई है। सबसे प्राचीन द्रविड़ मन्दिर जो अब वर्त्तमान हैं वे गुफा खोद कर बनाए गए थे। और सबसे पीछे के समय में द्रविड़ इमारतों ने जो उन्नतियां कीं उनमें उनकी उत्पत्ति के और भी चिन्ह मिलते हैं।

एलोरा कृष्णा नदी से दूर उत्तर की ओर है। एलोरा की कई इमारतों के ढांचे और उनकी बनावट के देखने से इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि वे द्रविड़ ढंग की हैं। कैलाश का मन्दिर आठवीं वा नवीं शताब्दी में बनाया गया था और यह समझा जाता है कि इसी समय के लगभग चालुक्यों की प्रबलता के पतन होने पर दक्षिण के द्रविड़ लोगों अर्थात् प्रबल चोला लोगों ने उत्तर की ओर अपना राज्य बढ़ाया था। इससे कृष्णानदी से इतनी दूर उत्तर में द्रविड़ ढंग के इस अद्भुत नमूने के मिलने का कारण विदित हो जाता है।

चट्टान में २७० फीट लम्बा और १५० चौड़ा एक बड़ा गड़हा खोदा गया है। इस चौकोर गड़हे के बीच में मन्दिर है जिसका विमान ८० वा ९० फीट ऊँचा है और जिसके आगे का बड़ा बरामदा १६ खम्भों पर है और यह एक पुल

तथा गोपुर अर्थात् फाटक के द्वारा मन्दिर से मिला हुआ है। इसके सिवाय दो दीपदान और चारों ओर छोटी छोटी कोठरियां हैं। यह मन्दिर की पूरी बनावट के ढांचे का है परन्तु वह ठोस चट्टान में काट कर बनाया गया है और इन बड़ी इमारतों का एक ही पत्थर से बनने के कारण उनमें वह पायदारी, मजबूती और शान है जो कि सब देखने वालों को आश्चर्यित करती है। चारों ओर की कोठरियां बौद्ध इमारतों के ढंग पर हैं परन्तु इन सातों कोठरियों में से प्रत्येक में भिन्न भिन्न हिन्दू देवताओं की स्थापना है। इसकी बनावट से प्राचीन बौद्ध से हिन्दू ढंग का निकला विदित होता है।

जब हम दक्षिण के चट्टान खोद कर बनाए हुए मन्दिरों को छोड़ कर उठाए हुए मन्दिरों की ओर फिरते हैं तो हमें यह देख कर आश्चर्यित होना पड़ता है कि उनमें से सबसे बड़े और सबसे उत्तम मन्दिर बहुत ही थोड़े समय के बने हुए हैं। जिन शताब्दियों में उत्तरी भारतवर्ष तथा दक्षिण भी मुसल्मानों के अधीन था उनमें कृष्णा नदी के दक्षिण में दक्षिण ढंग के मन्दिर निर्म्माण करने की विद्या अद्भुत बल और परिश्रम के साथ की जा रही थी। और दक्षिण के मन्दिर बनाने वाले अपने परिश्रम से उस समय तक नहीं चूके जब कि गत शताब्दी में अंग्रेजी और फरासीसी लोग कर्नाटक में प्रभुत्व पाने के लिये झगड़ रहे थे। दक्षिण में उठा कर बनाए हुए एक सबसे प्राचीन मन्दिरों में तंजोर का बड़ा मन्दिर है, परन्तु उसकी तिथि भी १४ वीं शताब्दी से पहिले निश्चित नहीं की जा सकती और यह कल्पना की जाती है कि उसे प्राचीन कांचीवरम अर्थात् काञ्ची के एक राजा ने बनवाया था। नीचे का सीधा भाग दो खण्ड का

ऊंचा है, और इसके ऊपर इमारत सुरुडाकार होकर १३ खण्डों की ऊँची है, इसके सिरे पर एक गुम्बज़ है जो कि एक ही बड़े पत्थर का बना हुआ कहा जा सकता है। इसकी पूरी ऊंचाई १९० फीट है और इस भड़कीली इमारत का रूप मनोहर और सुन्दर है। यह इमारत यद्यपि एलोरा के चट्टान खोद कर बने हुए मन्दिर से बहुत भिन्न है तथापि उसमें उसी ढंग के होने के चिन्ह मिलते हैं।

दक्षिणी भारतवर्ष के सब से मान्य और सब से प्राचीन मन्दिरों में समुद्र तट पर कावेरी नदी के मुहाने के कुछ उत्तर चिद्मबरं का मन्दिर है। उसका बनवाना निस्सन्देह दसवीं वा ग्यारहवीं शताब्दी में आरम्भ किया गया था, परन्तु इसके सब से अच्छे भाग १५ वीं, १६ वीं और १७ शताब्दियों के बने हुए हैं। इन्हीं शताब्दियों में बड़े गोपुर अर्थात् फाटक, पार्वती के मन्दिर और एक हज़ार खम्भों के बड़े और सुन्दर दलान का समय निश्चित करना चाहिए। पार्वती के मन्दिर का अगला भाग अद्भुत रीति से सुन्दर है। १०० खम्भों के दालान के खम्भे सामने की ओर २४ और लम्बान की ओर ४१ की पंक्तियों में हैं। कड़े पत्थरों के खम्भों का कुञ्ज जिनमें से प्रत्येक खम्भा एक ही पत्थर का बना हुआ है, और सब पर थोड़ी वा बहुत नकाशी का काम है एक अद्भुत शान का प्रभाव उत्पन्न करता है।

तंजौर के निकट शरिंघम का रौनकदार मन्दिर गत शताब्दी में बना था और निस्सन्देह इस मन्दिर का बनना फरासीसियों के कारण रुक गया, जिन्होंने कि ट्रिचिनापली के लेने के लिये अंग्रेजों से १० वर्ष तक युद्ध करने के समय में यहां रह कर किलाबन्दी की थी। इसके १४ वा १५ सुन्दर

नकाशीदार फाटकों के दूर से देखने से बहुत ही अद्भुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसके बीच की अधिक उत्तम बनावट सब के ऊपर उठी हुई नहीं है और यह अभाव दक्षिण के प्रायः सब बड़े बड़े मन्दिरों में पाया जाता है। वे सब थोड़े वा अधिक इमारतों के समूह हैं, जो कि सुन्दरता और काम की उत्तमता में आंख को चकाचौंध में डालने वाले हैं, परन्तु उनमें उत्तरी भारतवर्ष के मन्दिरों की नाईं दृष्टि किसी बीच की अद्भुत इमारत पर नहीं ठहरती।

मदुरा में एक बड़ा मन्दिर है जो कि कहा जाता है, १६ वीं शताब्दी में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु स्वयं मन्दिर को १७ वीं शताब्दी में त्रिमुल नायक ने बनवाया। यह एक बड़ा चौखुटा मन्दिर है जो कि लगभग ८४० फीट लम्बा और ७२० फीट चौड़ा है और उसमें ९ गोपुर तथा १,००० खम्भों का एक दालान है, जिनके पत्थर की नक्काशियां इस प्रकार की बहुत सी अन्य इमारतों से बढ़ कर हैं। इस मन्दिर के सिवाय मदुरा में एक प्रसिद्ध चौलत्री भी है जिसे कि इसी नायक ने राजा के यहां दस दिन भेंट करने के अवसर पर मुख्य देवता के लिये बनवाया था। यह ३३३ फीट लम्बी और १०५ फीट चौड़ी एक बड़ी दालान है जिसमें कि खम्भों की चार पंक्तियां हैं और उनमें से सब पर बहुत सुन्दर भिन्न भिन्न नकाशी हैं।

द्वीपों की उन श्रेणी में से एक पर जो कि भारतवर्ष को लंका से जोड़ती हुई जान पड़ती हैं, रामेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर है जिसमें द्रविड़ ढंग की सब से पूर्ण सुन्दरता देखने में आती है। मदुरा की नाईं यह मन्दिर भी (एक नीचे और प्राचीन विमान को छोड़ कर) १७वीं शताब्दी का बना हुआ है। मन्दिर के चारों ओर ८८६ फीट लम्बी और

६७२ फीट चौड़ी और २० फीट ऊंची दीवाल का घेरा है, इसके चारों ओर चार बड़े बड़े गोपुर हैं, परन्तु उनमें से केवल एक ही पूरा बना है। परन्तु मन्दिर की शान उसके लम्बे दालान में है जो कि लगभग ४००० फीट लम्बे हैं। उसकी चौड़ाई २० फीट से ३० तक है, और ऊंचाई ३० फीट है। "कोई नक्काशी उस विचार को नहीं प्रगट कर सकती जो कि लगातार ७०० फीट की लम्बाई तक इस परिश्रम की कारीगरी को देखने से होती है। हमारे कोई गिर्जे ५०० फीट से अधिक ऊंचे नहीं हैं और सेंट-पीटर के गिर्जे का मध्य भाग भी द्वार से लेकर पूजा स्थान तक केवल ६०० फीट लंबा है। यहां बगल के लंबे दालान ७०० फीट लम्बे हैं और वे उन फैले हुए पतले दालानों से जुड़े हुए हैं जिनका काम स्वयं उनकी ही भांति सुन्दर और उत्तम है। इनमें भिन्न भिन्न उपायों और प्रकाश के प्रबन्ध से ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है जो कि निस्सन्देह भारतवर्ष में और कहीं नहीं पाया जाता। यहां हमें ४००० फीट तक लंबे दालान मिलते हैं जिनके दोनों ओर कड़े से कड़े पत्थरों पर नक्काशी की गई है। यहां पर परिश्रम की जो अधिकता देखने में आती है उसका प्रभाव नक्काशी के गुण की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और वह एक प्रकार की मनोहरता और अद्भुतता को लिए हुए एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जो कि भारतवर्ष के किसी मन्दिर में नहीं पाया जाता है"। (फर्ग्यूसन् पृष्ठ २५८)

कांचीवरम या काञ्ची के प्राचीन नगर में बहुत से मनोहर मन्दिर हैं जो कि प्रायः इतने बड़े हैं जितने कि अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। कांचीवरम में एक बड़ा मन्दिर है जिसमें कि कई बड़े बड़े गोपुर और १००० खम्भों का एक दालान तथा उत्तम मंडप और बड़े बड़े तलाव हैं जिनमें सीढ़ियां भी हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि दक्षिणी भारतवर्ष में विजयनगर में हिन्दुओं का अन्तिम प्रबल राज्य था और उसने अपनी स्वतंत्रता दो शताब्दियों से अधिक समय तक अर्थात् १३४४ से १५५६ ई० तक रक्षित रक्खी। यहां गृह निर्माण शिल्प तथा विद्या और वेदाध्ययन उन्नति की अवस्था में रहे और सारे भारतवर्ष में कठिनता से कोई ऐसा नगर है जिसमें कि हिन्दुओं की विद्या और उनके प्रताप के इस अन्तिम नगर की नांई उसके चिन्ह इतने बहुतायत से वर्त्तमान हैं।

विठोप के मन्दिर का अगला भाग बड़ा ही सुन्दर और मनोहर है जो कि सारा कड़े पत्थरों से बना हुआ है और जिसकी खोदाई के काम में वह साहस और पराक्रम पाया जाता है जिसकी कि समानता इस प्रकार की इमारतों में और कहीं नहीं मिलती। बहुत से दूसरे मन्दिर और इमारतें भी बड़ी सुन्दर और विस्तृत पाई जाती हैं जो कि विजयनगर के राजाओं के अधिकार और उद्योग की शिक्षा देती हैं।

परन्तु इन राजाओं की सबसे उत्तम इमारतें नगर में नहीं है वरन् विजयनगर के लगभग १०० मील दक्षिण पूरब की ओर तरपुत्री नामक एक स्थान में है। वहां अब एक उजाड़ मन्दिर के दो गोपुर खड़े हैं जिनमें से एक तो पूरा बन गया है और दूसरे का केवल खड़े भाग के ऊपर नहीं बना है। "यह समस्त खड़ा भाग बहुत ही उत्तम खोदाई के काम से ढका हुआ है यह एक सुन्दर ठोस पत्थर पर बहुत ही उत्तम गहराई और शुद्धता के साथ बनाया गया है, और इसका अन्य बनावटों से अधिक और सम्भवतः विशेष मनोहर प्रभाव होता है। (फरग्यूसन पृष्ठ ३७५)।

अब दक्षिणी जैनियों की इमारतों के विषय में हम देखते हैं कि उन्होंने प्रायः द्रविड़ ढंग को ग्रहण किया है जैसा कि उत्तरी जैनियों ने उड़ीसा के ढंग को ग्रहण किया था। चन्द्रगिरि पर्वत पर १५ मन्दिरों का समूह है। प्रत्येक मन्दिर के भीतर एक दालान है जिसके चारों ओर बरामदे हैं जिसके पीछे की ओर तीर्थंकर की प्रधान मूर्ति की कोठरी के ऊपर विमान उठा हुआ है।

मन्दिरों के सिवाय दक्षिणी जैनियों ने कई स्थानों पर पर्वताकार मूर्तियां बनवाई हैं जो कि उत्तर में पूर्णतया नहीं हैं। वे गौतम राजा की मूर्तियां कही जाती हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि गौतम बुद्ध के राजकुमार वा राजा होने के कुछ अस्पष्ट स्मरण इन मूर्तियों के बनवाने के कारण हैं। इनमें से एक श्रावन बेलगुल में है जिसने कि वेलिंग्टन के ड्यूक सर ए वेलेसली साहब का ध्यान आकर्षित किया था जिस समय कि वे सेरिंगपटम को घेरने में एक सेना के सेनापति थे। यह ७० फीट ३ इंच ऊंची एक मूर्ति है और ऐसा समझा जाता है कि यह एक ठोस पहाड़ी को काटकर बनाई गई है जो कि पहिले इस स्थान पर थी। ईजिप्ट के सिवाय और कहीं ऐसा भारी और इतना प्रभाव उत्पन्न करने वाला दृश्य नहीं है और ईजिप्ट में भी कोई मूर्ति इससे अधिक ऊंची नहीं है। (फर्ग्यूसन पृष्ठ २६८)

दक्षिणी ढंग।

हम हिन्दू इमारतों के दो भिन्न ढंग के विषय में लिख चुके हैं अर्थात् एक तो उड़ीसा वा उत्तरी भारतवर्ष का जो कि विंध्या पर्वत के उत्तर के देश में पाया जाता है, और दूसरा द्रविड़ का अथवा दक्षिणी भारतवर्ष का ढंग जो कि

कृष्णा नदी के दक्षिण देश में पाया जाता है। परन्तु इनके सिवाय एक तीसरे प्रकार का ढंग भी है जिसे डाक्टर फर्ग्युसन साहेब चालुक्य ढंग कहते हैं और जो विन्ध्या पर्वत और कृष्णा नदी के बीच में अर्थात् उस देश में जो कि दक्षिण कहलाता है, मिलता है। इसकी अभी पूरी तरह जांच नहीं की गई है, क्योंकि और देशों की अपेक्षा निज़ाम के राज्य में अभी कुछ भी खोज नहीं की गई है। इसके सिवाय यह भी संभव है कि वहां कई शताब्दियों तक बराबर मुसल्मानों का राज्य रहने के कारण बहुत ही कम प्राचीन हिन्दुओं की इमारतें बची होंगी। इसके जो नमूने विदित हैं, उनमें से सबसे उत्तम मैसूर के राज्य में हैं जो कि यद्यपि कृष्णा के दक्षिण में है पर फिर भी यहां पर चालुक्य ढंग की वृद्धि हुई है।

इस ढंग की विशेषता यह है कि मन्दिरों का आधार बहुभुज वा तारे के रूप का होता है, दीवारें कुछ दूर तक सीधी उठती हैं और तब ढालुआं होती हुई एक विंदु पर मिल जाती हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि बल्लाल राजाओं ने मैसूर और कर्नाटक में सन् १००० से सन् १३१० ईस्वी तक सर्व प्रधान रह कर राज्य किया और इस वंश के राजाओं ने मन्दिरों के तीन अद्भुत समूह बनवाए हैं। इनमें से एक तो सोमनाथपुर में विनादित्य बल्लाल का बनवाया हुआ है, जो कि सन् १०४३ में राजगद्दी पर बैठा था। इस मन्दिर की ऊंचाई केवल ३० फीट है परन्तु उसकी विशेषता उसके बाह्य रूप की अद्भुत सुन्दरता और काम की बारीकी में है। दूसरा मन्दिर बेलूर में है जिसे विष्णुवर्द्धन ने १११४ ईस्वी

के लगभग बनवाया था। उसमें प्रधान मन्दिरों के चारों ओर चार वा पांच अन्य मन्दिर तथा बहुत सी छोटी छोटी इमारतें हैं जो कि एक ऊँची दीवार से घिरी हुई हैं और उसमें दो उत्तम गोपुर हैं। इसकी २८ खिड़कियों में मूर्ति निर्माण विद्या का अद्भुत काम दिखलाया गया है। बल्लाल राजाओं का तीसरा और अन्तिम मन्दिर हुल्लाबिड में है। इस मन्दिर को जिसे कि कैटईश्वर का मन्दिर कहते हैं, सम्भवतः इस वंश के पांचवें राजा विजय ने इसे बनवाया था। "नींव से लेकर सिरे तक वह भारतवर्ष के सबसे उत्तम श्रेणी के खुदाई के काम से ढँका हुआ है और ये इस प्रकार से बनाए गए हैं कि वे इमारत के बाह्य रूप में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं करते वरन् उसे ऐसी शोभा देते हैं जो कि केवल हिन्दू शिल्प के नमूनों में पाई जाती है। यदि इस मन्दिर का संपूर्ण चित्र देना सम्भव होता तो सम्भवतः भारतवर्ष में और कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जिससे कि उसके बनाने वालों की योग्यता का अधिक परिचय मिलता" (फरग्यूसन पृष्ठ ४३७)।

परन्तु कैटईश्वर के मन्दिर से अधिक उत्तम उसके निकट का हुल्लाबिड का बड़ा दोहरा मन्दिर है। यदि यह दोहरा मन्दिर पूरा बन गया होता तो वह एक ऐसी इमारत होती जिस पर कि डाक्टर फरग्यूसन साहब के कथनानुसार, हिन्दू गृहनिर्माण विद्या के प्रशंसक अपनी स्थिति लेना चाहते। परन्तु दुर्भाग्य वश यह इमारत समाप्त न हो सकी। ८६ वर्ष तक वह बनती रही परन्तु इसके उपरान्त सन् १३१० ई० में मुसलमानों की विजय ने इसका बनना रोक दिया।

"निस्सन्देह इतने पेचीले और इतने भिन्न भिन्न प्रकार के नमूनों का दृष्टान्त के द्वारा समझाना असम्भव है। यह इमारत पांच वा छ फीट ऊंचे एक चबूतरे पर है जिसमें कि बड़े बड़े पत्थर की पटिया लगी हैं। इस चबूतरे के ऊपर हाथियों की एक पंक्ति खुदी है जो कि लगभग ७१० फीट लम्बी है और उसमें २००० हाथियों से कम नहीं है और उनमें से अधिक पर साज तथा सवार भी इस भांति खुदे हुए हैं जैसा कि केवल पूर्व देश वासी इन्हें बना सकते हैं। इनके ऊपर शार्दूलों अर्थात् कल्पित सिंहों की पंक्ति है जो कि इस मन्दिर के बनाने वाले होइशल बल्लालों का राज्यचिन्ह है। इसके उपरान्त बड़े सुन्दर चित्र विचित्र बेल बूटों का काम है, उसके ऊपर घोड़सवारों की पंक्ति और दूसरे बेल बूटों का काम है और उसके ऊपर रामायण के दृश्य यथा लंकाविजय तथा अन्य भिन्न घटनाओं के दृश्य खुदे हुए हैं। यह भी पहिले मन्दिर की नांई ७०० फीट लम्बा है इसके उपरान्त स्वर्ग के पशु और पक्षियों की मूर्तियां हैं और पूरब ओर बराबर मनुष्यों के झुण्ड की पंक्ति है और फिर कटघरे के सहित एक कार्निस है जिसमें कि बराबर खाने हैं जिनमें से प्रत्येक खाने में दो मूर्तियां हैं। इनके ऊपर जालीदार पत्थर की खिड़कियां हैं जो कि बेलूर के मन्दिर की नाईं हैं यद्यपि उनमें इतना अधिक और इतने भिन्न भिन्न प्रकार का काम नहीं है, मध्य में खिड़कियों के स्थान पर पहिले बेल बूटे हैं और उसके उपरान्त देवताओं और स्वर्ग की अप्सराओं तथा हिंदू कथाओं की अन्य बातों की पंक्ति है। यह पंक्ति जो कि साढ़े पांच फीट ऊंची है इमारत के संपूर्ण पश्चिमी ओर भी है तथा उसकी लम्बाई ४०० फीट के लगभग है इसमें शिव तथा उसके जांघ पर

उसकी पत्नी पार्वती की मूर्ति कम से कम १४ वार दी गई है। विष्णु के नवों अवतार की भी इसमें मूर्तियां हैं। ब्रह्मा की तीन वा चार मूर्तियां हैं और इसमें हिन्दुओं की कथाओं के प्रत्येक देवता दिए हैं। इनमें से कुछ मूर्तियों में ऐसा महीन काम है कि उसका चित्र केवल फोटोग्राफ के द्वारा लिया जा सकता है और सम्भवतः वह धैर्यमान पूरब में भी मनुष्यों के परिश्रम का सबसे अद्भुत नमूना समझा जा सकता है"। (फरग्यूसन पृष्ठ ४०१)

हमने डाक्टर फरग्यूसन साहेब के ग्रन्थ से अपने पाठकों को उन खुदाई के अद्भुत कामों से परिचय दिलाने के लिये इन बड़े बड़े वाक्यों को उद्धृत किया है जिसके विषय में कि हमने प्रायः प्रत्येक मन्दिर और विमान, बरामदे और गोपुर का वर्णन करने में इतनी वार उल्लेख किया है। हिन्दू मन्दिर में यदि उत्तम नक्काशी और सुन्दर काम बहुतायत से न हो तो वह कुछ नहीं है और यही अद्भुत और अनन्त बेल बूटों और खुदाई का काम उड़ीसा और राजपूताना से लेकर मैसूर और रामेश्वर तक भारतवर्ष के प्रत्येक मन्दिर में पाया जाता है। अब हम हेलेबिड के मन्दिरों की सुन्दर नक्काशी के विषय में अपने उसी ग्रन्थकर्ता की कुछ विचारशील बातों को उद्धृत करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे जिसके वाक्यों को कि हमने इस अध्याय में इतनी अधिकता से उद्धृत किया है।

"यदि ह्यलेबिड़ के मन्दिर का इस प्रकार से दृष्टान्त देकर समझाना सम्भव होता कि हमारे पाठक उसकी विशेषता से परिचित हो जाते तो उनमें तथा पथेंस के पार्थीनान में समानता ठहराने में बहुत ही कम वस्तुएँ इतनी मनोरंजक और इतनी शिक्षाप्रद होतीं। यह बात नहीं

है कि ये दोनों इमारतें एक सी हैं वरन इसके विरुद्ध वे गृहनिर्म्माण विद्या के दोनों ओर के अन्तिम सिरे हैं परन्तु वे अपनी अपनी श्रेणी के सबसे उत्तम नमूने हैं और इन दोनों सिरों के बीच गृहनिर्म्माण करने की समस्त विद्या है ।

"पार्थीनान गृहनिर्म्माण करने की शुद्ध उत्तम बुद्धि का सबसे उत्तम नमूना है जो कि हमें अब तक विदित है। उसका प्रत्येक भाग और प्रत्येक वस्तु गणित की बड़ी शुद्धता और बड़ी कारीगरी के साथ बनाई गई है जिसकी बराबरी कभी नहीं हो सकी। उसके पत्थर का काम उसके निर्माण को पूर्णता पर पहुँचाने के लिये बहुत उत्तमता से किया गया है जो कि बड़ा दृढ़ और देवताओं सा है और उसमें मनुष्यों के नीच विचार कहीं देखने में नहीं आते ।

"हुलेबिड का मन्दिर इन सब बातों में विरुद्ध है वह समकोण है परन्तु उसके बाह्य रूप भिन्न भिन्न प्रकार के हैं तथा उसकी विशेष बनावट में और भी अधिक भिन्नता है। पार्थीनान के सब खम्भे एक से हैं। परन्तु भारतवर्ष के इस मन्दिर के कोई दो भी एक से नहीं हैं, प्रत्येक बेल का प्रत्येक घुमाव जुदी जुदी भाँति का है। सारी इमारत में कोई दो मंडप एक से नहीं हैं और प्रत्येक में कारीगरी की बाधाओं को लज्जित करती हुई, आनन्द देने वाली कल्पना की अधिकता देखने में आती है । मनुष्यों के धर्म्म की सब निगढ़ बातें तथा मानवी विचार की सब बातों के चिन्ह इन दीवारों में अङ्कित पाए जाते हैं । परन्तु इनमें शुद्ध बुद्धि की बहुत ही थोड़ी बातें हैं अर्थात् पार्थीनान में जो मानवी विचार पाए जाते हैं उनसे बहुत थोड़ी बातें इसमें पाई जाती हैं ।

हमारे लिये भारतवर्ष के इन नमूनों का अध्ययन इस कारण बड़ा उपयोगी है कि उससे गृहनिर्माण विद्या के गुणदोष के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। हम लोग जिन रूपों से अब तक परिचित हैं उनसे इतने विपरीत रूपों को जानने से हम यह देख सकते हैं कि जो लोग एक ही रूप वा एक ही रीति से संतुष्ट हैं वे कितने परिमित हैं। इस विस्तृत दृष्टि से हमें यह देख पड़ेगा कि गृहनिर्माण विद्या भी इतनी ही भिन्न भिन्न भांति की हो सकती है जितने भिन्न भिन्न मनुष्यों के हृदय वा मस्तिष्क कितने थोड़े ऐसे विचार और ऐसी कामनाएं हैं जो कि शिल्प के द्वारा प्रगट न की जा सकें। (फरग्यूसन पृष्ठ ४०३)

इन विचार शील तथा गृह निर्माण विद्या के सम्बन्ध में दार्शनिक बातों से इतिहास जानने वालों के स्वभावतः कुछ विचार मिलते हैं। क्या कारण है कि भारतवर्ष के गृह-निम्मार्ण विद्या में "शुद्ध बुद्धि" का अभाव प्रगट होता है जैसा कि डाक्टर फरग्यूसन साहब कहते हैं? और फिर क्या कारण है कि उसी गृह निम्मार्ण विद्या में आनन्द देनेवाली कल्पना की इतनी अधिकता तथा "पवित्र विचार" अर्थात् लाखों जीवधारियों को उनके सब नम्र विचार आशा और भय के भावों को, उनके नित्य के व्यवसायों को, उनके युद्ध और विजय को, उनके परिश्रम और पश्चात्ताप को, तथा उनके पापों को भी अपने मन्दिरों में चित्रित करने की इतनी प्रबल कामना पाई जाती है?

पहिले प्रश्न का उत्तर सहज है। कपिल और कालीदास की भूमि में "शुद्ध बुद्धि" का अभाव नहीं था परन्तु दुर्भाग्य वश उच्चश्रेणी के लोगों में शारीरिक परिश्रम के व्यवसायों को करने की अरुचि थी। और जब जाति भेद एक बार

पूरी तरह से स्थापित होगया तो शारीरिक परिश्रम न करने की यह रुचि ऊंची जातियों का एक नियम होगया। विचारशील लोगों अर्थात् क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिये खुदाई का व्यवसाय करना असम्भव हो गया और इस प्रकार इस उत्तम शिल्प से उच्चश्रेणी के बुद्धिवाले लोग सदा के लिये जुदे होगए। शिल्प करने वाली जातियों में सजने की विद्या की वह अद्भुत चतुराई थी जो कि हिन्दुओं के सब प्रकार की कारीगरी में विशेष रूप से पाई जाती है, और उन्होंने कारीगरी में वह सुगमता प्राप्त की जो कि सैकड़ों वर्ष के अनुभव से होती है। उनके लिये कोई परिश्रम का भी यत्न करना इतना बड़ा कार्य्य नहीं था जो कि न हो सके। किसी प्रकार का भी सूक्ष्म वा परिश्रम का काम ऐसा नहीं था, जिन्हें कि वे न कर सकें परन्तु फिर भी हिन्दू काल के अन्त तक वे लोग केवल शिल्पकार अर्थात् निपुण कारीगरों के वंशज बने रहे और इसके सिवाय उन्होंने और किसी विषय में उन्नति न की। पुजेरियों तथा राजाओं की आज्ञा से उन्होंने जिन अद्भुत इमारतों से भारतवर्ष को भर दिया है वे किसी उच्च बुद्धि के विचार वा किसी आविष्कारक बुद्धि के नमुने की अपेक्षा बड़े परिश्रम तथा सूक्ष्म और अनन्त कारीगरी के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। और उन हजारों मनुष्यों और स्त्रियों की सुन्दर मनोहर और स्वाभाविक मूर्तियों में जिन्हें कि प्रकृति के ध्यान पूर्वक अवलोकन ने इन शिल्पकारों को प्रत्येक मन्दिर और बरामदों के पत्थरों में खोदना सिखलाया था, हमारा उस उच्चश्रेणी की बुद्धि का खोजना व्यर्थ है, जो कि ग्रीस और रोम की संगमर्मर की मूर्तियों में पाई जाती है। फीडिअस और मैकेल एञ्जलो के ऐसे शिल्पकारों का होना असम्भव था।

दूसरे प्रश्न के उत्तर के लिये हमें इनसे अधिक गूढ़ कारण खोजने पड़ेंगे। केवल ग्रीस के मन्दिरों में ही नहीं वरन यूरप के मध्य समय के तथा आज कल के गिरजों के लिये धर्म्म सम्बन्धी विषय और नमूने ही उपयुक्त समझे गए हैं। प्राटेस्टेण्ट जातियों के गिरजों की खिड़कियों को ईसामसीह के चरित्र तथा अन्य पवित्र विषय के चित्र सुशोभित करते हैं और कैथोलिक गिरजों को मसीह और उनकी माता की तथा पीरों और धार्मिक मनुष्यों की संगमर्मर की मूर्तियां सुशोभित करती हैं। भारतवर्ष में देवताओं के असंख्य मन्दिरों में भी मूर्तियां खोदी हुई हैं परन्तु वे केवल देवताओं और देवियों की मूर्तियां ही नहीं हैं वरन समस्त सृष्टि के जीवधारी तथा निर्जीव वस्तुओं की भी हैं, जैसे मनुष्यों और स्त्रियों की, उनके नित्य के कार्य्य, उनके युद्धों विजयों और बारातों की, हवा में रहने वाले और कल्पित प्राणियों तथा गन्धर्वों और अप्सराओं की, घोड़ों सांपों पक्षियों हाथियों और सिंहों की, वृक्षों और लताओं की तथा अन्य अन्य प्रकार की अर्थात् उन सब वस्तुओं की जिन्हें कि शिल्पकार सोच सकता था वा जो उसके शिल्प द्वारा दिखलाई जा सकती थीं।

हिन्दुओं के लिये यह प्रश्न अपनी ही व्याख्या प्रगट करता है। यूरोप में धर्म्म के विचार का सम्बन्ध ईश्वर के प्रताप और ईसा मसीह की शिक्षाओं तथा गिरजों के उपदेश और धार्मिक कार्य्यों से है। हिन्दुओं के लिए उनके जीवन के सब छोटे छोटे कार्य्य भी उनके धर्म का एक भाग है। केवल नीति शिक्षा ही नहीं वरन सामाजिक और गृहस्थी के नियम, खाना पीना और मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ व्यवहार करना भी उनके धर्म में सम्मिलित है।

यह धर्म्म ही है जो कि उनके योधाओं को लड़ने के लिये, विद्वानों को अध्ययन और विचार करने के लिये, शिल्पकारों को अपना व्यवसाय करने के लिये और सब मनुष्यों के परस्पर आचरण के लिये शिक्षा देता है। उपनिषदों में उत्तर काल के सब धार्मिक ग्रन्थों में स्वयं ब्रह्मन् का ज्ञान है, सर्वव्यापक जगत में सभों की उत्पत्ति उसी से हुई है, और सब उसी में लीन हो जाते हैं। प्राचीन धर्म शास्त्रों में स्वयं धर्म शब्द का अर्थ आधुनिक धर्म्म से ही नहीं वरन मनुष्यों के कर्तव्य और मनुष्यों के जीवन के सब व्यवसाय उद्योग और प्रतिदिन के कार्य्यों से है। अध्ययन, व्यवसाय और वाणिज्य को धर्म्म नियमानुसार चलाता है, धर्म्म खाने पीने और जीवन के सुखों के नियम निश्चित करता है, धर्म्म दीवानी और फौजदारी के नियमों और पैत्राधिकार के नियमों को निश्चित करता है, धर्म्म इस लोक में मनुष्य और पशु बनस्पतियों पर तथा ऊपर के लोक में देवताओं और ऋषियों पर प्रभुत्व करता है। यह शब्द ऐसा नानार्थक है कि वह निर्जीव वस्तुओं के गुणों को भी प्रगट करता है, अग्नि का धर्म्म ही जलना है, वृक्षों का धर्म्म ही ऊगना है और जल का धर्म सब से नीचे स्थान को खोजना है। और यद्यपि आज कल के हिन्दुओं का उनके पूर्वजों के विचार से बहुत ही परिवर्तन हो गया है, तथापि अब तक भी कट्टर और धार्मिक हिन्दुओं का समस्त जीवन उन नियमों और विधानों के द्वारा चलता है, जिसे कि वे अपना धर्म्म समझते हैं, अर्थात् राजनैतिक, सामाजिक और गृह जीवन के प्रत्येक कार्य्य और प्रत्येक शब्द के नियम। धर्म्म विषय और सांसारिक विषय का भेद हिन्दुओं में नहीं है। आचरण का प्रत्येक नियम हिन्दुओं के धर्म्म का अंश है।

धर्म्म के सम्बन्ध में ऐसा विचार होने के कारण हिन्दुओं

ने इन विचारों को अपनी इमारतों और खुदाई के काम में चित्रित करने का यत्न किया। मन्दिरों की पवित्र सीमा से कोई वस्तु भी, मजदूरों का नित्य का नीचे से नीचा व्यवसाय भी अथवा शोक, दुःख और पाप भी वंचित नहीं रखा गया। सारी सृष्टि उस देवता से उत्पन्न हुई है, जिसके लिये कि मन्दिर बनवाये जाते थे, और जहां तक उनकी चतुराई और अविश्रांत परिश्रम से हो सकता था वे इन मन्दिरों पर सृष्टि को चित्रित करने का यत्न करते थे। ऊँच और नीच, बुद्धिमान और निर्बुद्धि, जीवधारी और निर्जीव अर्थात् समस्त संसार अपने हर्ष और दुःख के सहित हिन्दू धर्म्म के विचार में सम्मिलित है और हिन्दुओं ने इन सर्वव्यापी विचार को अनुभव करके अपने परिश्रम और अपने धर्म्म के चिरस्थायी स्मारक पर सब सृष्टि को चित्रित करने का यत्न किया।

अध्याय १०

ज्योतिष बीजगणित और अंकगणित।

कोलब्रूक साहब यूरोप के पहिले ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने हिन्दू बीजगणित अंकगणित और ज्योतिष के विषय की पूरी खोज की है, और उनके समय से लेकर आज तक किसी ग्रन्थकार ने अधिक सावधानी से और पक्षपात रहित होकर इस विषय में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है यद्यपि उनके पीछे के विद्वानों ने इस विषय पर कई बार विचार किया है। अतएव हम हिन्दू बीजगणित के विषय में कोलब्रूक साहब

के उन विचारों को उद्धृत करने के लिये क्षमा नहीं मांगेंगे, जिनको लिखे हुए कि ७० वर्ष के ऊपर होगया है ।

" युनानियों ने इस शास्त्र के मूल तत्वों को जिस शताब्दी में सीख लिया उसके उपरान्त की ही शताब्दी में हिन्दुओं ने इसमें विशेष उन्नति प्राप्त कर ली थी। हिन्दुओं को गणित के अंकों को लिखने की उत्तम रीति का लाभ था परन्तु युनानियों को इसका अभाव था। बीजगणित अंक-गणित के प्रायः समान होने के कारण जहां अंकगणित की सब से उत्तम रीति प्रचलित थी वहां बीजगणित के कलन का आविष्कार भी अधिक सहज और स्वाभाविक हुआ, हिन्दु और डिओफैंटी प्रणालियों में कोई ऐसी स्पष्ट समानता नहीं देखी जाती कि जिससे उनका सम्बन्ध प्रमाणित हो। उनमें इस विचार की पुष्टि करने के लिये काफी भेद है, कि ये दोनों प्रणालियां एक दूसरे से स्वतंत्र रीति पर बनाई गई हैं।

"परन्तु यदि यह कहा जाय कि हिन्दुओं को इस विषय के ज्ञान का बीज एलेक्ज़ेण्ड्रिया के युनानियों से स्वयं अथवा बैक्ट्रिया के युनानियों द्वारा प्राप्त हुआ तो उसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि एक बहुत ही निर्बल बीज ने भारतवर्ष में बहुत ही शीघ्र बढ़ कर सम्पूर्णता की उन्नत अवस्था को प्राप्त कर लिया" ।

इसी ग्रन्थकार के हिन्दू ज्योतिष के सम्बन्ध के विचार भी वैसे ही ध्यान देने योग्य हैं। "हिन्दुओं ने समय को निश्चित करने के लिए जो ज्योतिष शास्त्र बनाया था उसमें निस्सन्देह बहुत प्राचीन समय में ही कुछ उन्नति कर ली थी। उनके सामाजिक और धर्म्म सम्बन्धी पञ्चाङ्ग मुख्यतः चन्द्रमा

और सूर्य्य के अनुसार होते थे परन्तु केवल इन्हीं के अनुसार नहीं थे, और उन लोगों ने चन्द्रमा और सूर्य्य की गति को ध्यान पूर्वक जान लिया था, और ऐसी सफलता प्राप्त की कि उन्होंने चन्द्रमा का जो युति अगण निश्चित किया है जिससे कि उनका विशेषतः सम्बन्ध था, वह युनानियों की अपेक्षा बहुतही शुद्ध है। उन्होंने क्रान्ति वृत्त को २७ वा २८ भागों में बांटा है जो कि स्पष्ट चन्द्रमा के दिन की संख्या से जाना गया है और यह सिद्धान्त जो उन्हीं का निर्माण किया हुआ जान पड़ता है निस्सन्देह अरब के लोगों से लिया गया था। स्थिर तारों को देखने के कारण उन्हें उनमें से सबसे प्रसिद्ध तारों की स्थिति का ज्ञान हुआ और धर्म्म सम्बन्धी कार्य्यों के लिये तथा मिथ्या विश्वास के कारण उन्होंने उन तारों के सूर्य्य के साथ उदय होने को तथा अन्य बातों को जाना। अन्य तत्त्वों के साथ सूर्य्य, ग्रहों तथा नक्षत्रों की पूजा उनके धर्म्म सम्बन्धी परिज्ञान में एक मुख्य बात थी जिसका उपदेश वेदों में किया गया है, और वे धर्म्म के कारण इन नक्षत्र आदि को निरन्तर ध्यानपूर्वक देखने के लिये बाध्य हुए। वे सबसे भड़कीले मुख्य ग्रहों से विशेष परिचित थे और उन्होंने अपने पवित्र और सामाजिक पञ्चाङ्ग के निश्चित करने में सूर्य्य और चन्द्रमा के सहित बृहस्पति का काल ६० वर्षों के प्रसिद्ध चक्र के रूप में रक्खा है"।

जब कि हिन्दू ज्योतिष शास्त्र वेदों से इतना प्राचीन है तो इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि सन् ईस्वी के उपरान्त इस शास्त्र ने युनानियों के द्वारा बहुत कुछ उन्नति प्राप्त की। हम अन्तिम कांड में देख चुके हैं कि बौद्ध काल के सिद्धान्त युनानियों के ज्योतिष शास्त्र के बहुत अनुगृहीत हैं।

उदाहरण के लिये सूर्य्य सम्बन्धी राशिचक्र को हिन्दुओं ने निस्सन्देह यूनानियों से पाया है। हिन्दुओं के राशि चक्र के बारह भाग करने से और प्रत्येक भाग को उन्हीं पशुओं के चित्रों से अंकित होने के तथा उन्हीं अर्थ के नामों से पुकारने से जैसा कि यूनानी लोग करते थे इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि सन ईस्वी के उपरान्त हिन्दुओं ने ज्योतिष शास्त्र की बातें ली।

आर्य्यभट्ट पौराणिक काल में बीजगणित तथा ज्योतिष शास्त्र का पहिला हिन्दू ग्रन्थकार हुआ। उसका जन्म सन् ४७६ ईस्वी में हुआ जैसा कि वह स्वयं कहता है। उसने आर्य्यभट्टीय ग्रन्थ लिखा जिसमें कि गीतिका पाद, गणित पाद, कालक्रिया पाद और गोल पाद हैं।

इस ग्रन्थ को अब डाक्टर कर्न साहब ने प्रकाशित किया है और इसमें इस ज्योतिषी ने पृथ्वी के अपनी धूरी पर घूमने के सिद्धान्त तथा सूर्य्य और चन्द्र ग्रहणों के सच्चे कारण का साहस के साथ समर्थन किया है। आर्य्यभट्ट कहता है "जिस प्रकार किसी नौका में बैठा हुआ मनुष्य आगे बढ़ता हुआ स्थिर वस्तुओं को पीछे की ओर चलता देखता है उसी प्रकार तारे भी यद्यपि वे अचल हैं तथापि नित्य चलते हुए दिखाई पड़ते हैं।" जान पड़ता है कि ग्रहण के सम्बन्ध में आर्यभट्ट की बातें उसके समकालीनों को विदित थीं क्योंकि हम कालिदास के रघुवंश की (१६, ४०) एक उपमा में इस आविष्कार का उल्लेख पाते हैं जिसमें उसने कहा है कि "जो वस्तु वास्तव में पृथ्वी की छाया है उसे लोग चन्द्रमा की अपवित्रता समझते हैं।" गोलपाद में आर्य्यभट्ट ने सौर राशिचक्र के बारहों भाग के नाम दिए हैं।

आर्य्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की जो गणना की है (चार चार कोसों के ३३०० योजन) वह लगभग ठीक है।

आर्य्यभट्ट का जन्म प्रतापी अशोक की प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र में हुआ था और उसने छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस शताब्दी में विद्या की उन्नति केवल उज्जयिनी ही में परिमित नहीं थी, यद्यपि इस नगर ने प्रतापी विक्रमादित्य के कारण बहुत कुछ प्रसिद्धि पाई थी।

आर्य्यभट्ट का उत्तराधिकारी वराहमिहिर अवन्ती का एक सच्चा पुत्र था। उसका जन्म अवन्ती में हुआ था और वह आदित्य दास का पुत्र था जो कि स्वयं भी ज्योतिषी था। डाक्टर हंटर तथा एलबेरुनी ने उज्जयिनी की जो सूची सङ्कलित की है उसमें वराहमिहिर का समय सन् ५०५ ईस्वी दिया है और यह सम्भवतः उसके जन्म का समय है। हम पहिले कह चुके हैं कि विक्रम की सभा के "नवरत्नों" में एक यह भी था और डाक्टर भाऊदाजी ने उसकी मृत्यु का समय सन् ५८७ ई० निश्चित किया है।

उसने अपनी प्रसिद्ध पञ्चसिद्धान्तिका में पांच प्राचीन सिद्धान्तों अर्थात् पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर और पैतामह सिद्धान्तों को सङ्कलित किया है। हम इन सिद्धान्तों के विषय में इस पुस्तक के पिछले कांड में लिख चुके हैं।

वराह-मिहिर "बृहत् संहिता" नामक ग्रन्थ का भी रचयिता है जिसे कि डाक्टर कर्न साहब ने सम्पादित किया है। ग्रन्थ में भिन्न भिन्न विषयों पर पूरे १०६ अध्याय हैं। पहिले २० अध्यायों में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी और ग्रहों का विषय है, २१ वें से ३९ वें अध्याय तक वृष्टि, हवा, भूडोल, उल्का, इन्द्रधनुष, आंधी, वज्र इत्यादि का विषय है, ४० से

४२ तक ग्रहों और वनस्पति का तथा भिन्न ऋतु में मिलने वाली व्यापार की सामग्रियों का विषय है, अध्याय ४३ से ६० तक बहुत सी फुटकर बातों का तथा घर बनाने, बगीचे, मन्दिर, मूर्त्ति इत्यादि का विषय है, अध्याय ६१ से ७८ तक में भिन्न भिन्न पशुओं और मनुष्यों तथा स्त्रियों इत्यादि का विषय है, अध्याय ७९ से ८५ तक रत्न और असबाब इत्यादि का विषय है, अध्याय ८६ से ९६ तक सब प्रकार के सगुन का विषय है और ९७ से १०६ तक बहुत से विषयों का वर्णन है जिनमें विवाह राशिचक्र के भाग इत्यादि भी सम्मिलित हैं ।

इस ग्रन्थ के उपरोक्त विषयों से इस बृहद् ग्रन्थ में समस्त शास्त्रों के सम्मिलित होने का काफी ज्ञान नहीं होता । उसके ज्योतिष विद्या के उत्तम ग्रन्थ होने के अतिरिक्त साधारण विषयों के सम्बन्ध में जो सूचना मिलती है वह इतिहास जानने वालों के लिये बड़े ही मूल्य की है । उदाहरण के लिये १४ वें अध्याय में भारतवर्ष की छठी शताब्दी का पूरा भूगोल है और उसमें बहुत से प्रान्तों और नगरों के नाम हैं । ४१ वें और ४२ वें अध्यायों में वाणिज्य की वस्तुओं, वनस्पतिओं और शिल्प की वस्तुओं के बहुत से नाम हैं जो कि सभ्यता का विशेष रूप से वृत्तान्त जानने के लिये बहुत ही आवश्यक हैं । इसी प्रकार ६१ वें अध्याय से लेकर ६७ वें अध्याय तक भिन्न भिन्न प्रकार के पशुओं का उल्लेख है और ७९ से ८५ तक भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं का हीरे से लेकर दांत साफ करने की कूची तक का वर्णन है । अध्याय ८५ हमारे लिये विशेष काम का है क्योंकि उसमें भिन्न भिन्न मूर्तियां तथा राम, बलि, आठ वा चार वा दो हाथों के विष्णु, बलदेव, कृष्ण और बलदेव के बीच एक देवी, साम्ब, चार मुख वाले ब्रह्मा, इन्द्र, शिव और उसकी पत्नी, अरहतों, देवता बुद्ध,

सूर्य्य, लिङ्ग, यम, वरुण, कुबेर और हाथी के सिर वाले गणेश की मूर्तियों के बनाने के नियम हैं। और अध्याय ६० में कहा गया है कि भागवत लोग विष्णु की पूजा करते हैं, मग लोग सूर्य्य की पूजा करते हैं, और द्विज लोग भस्म लगाकर शिव की पूजा करते हैं, माथि की पूजा वे लोग करते हैं जो लोग उनको जानते हैं और ब्राह्मण लोग ब्रह्मा की पूजा करते हैं। शाक्य तथा नंगे जैनी परम दयालु और शान्त हृदयवाले देवता (बुद्ध) की पूजा करते हैं। "प्रत्येक पंथ के लोगों को अपने अपने देवता की पूजा अपने पंथ के नियमानुसार करनी चाहिए।" इन वाक्यों से छठीं शताब्दी का विरोधाभाव प्रमाणित होता है। शङ्कराचार्य्य के उपरान्त का कोई हिन्दू देवताओं की सूची में बुद्ध के "परम दयालु" और "शान्त हृदय" होने का वर्णन नहीं करेगा। इसके उपरान्त की शताब्दी में ब्रह्मगुप्त ने अपना ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त नामक ग्रन्थ (६२८ ई० में) लिखा। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं। पहिले १० अध्यायों में ज्योतिष की प्रणाली का वर्णन है जिसमें ग्रहों के स्थानों, सूर्य्य और चन्द्रग्रहण की गणना, चन्द्रमा के स्कन्धों की स्थिति, ग्रहों और नक्षत्रों इत्यादि का उल्लेख है। इसके उपरान्त के १० वां अध्याय विषय पूरक हैं और अन्तिम अध्याय में स्फेरिक्स के विषय के लेख में ज्योतिष की प्रणाली का वर्णन किया है। १२ वें और १८ वें अध्यायों का कोलब्रूक साहब ने अनुवाद किया है।

ब्रह्मगुप्त के उपरान्त अन्धकार और राजकीय उलट फेर का समय आया। जब इस समय की समाप्ति होकर भारतवर्ष में राजपूतों का अधिकार समाप्त हुआ उस समय एक दूसरा गणितज्ञ हुआ। प्रसिद्ध भास्कराचार्य्य का जन्म जैसा कि वह स्वयं कहता है सन् १११४ ई० में हुआ और

उसने सिद्धान्तशिरोमणि नाम का बड़ा ग्रन्थ सन् ११५० ई० में समाप्त किया। इस ग्रन्थ के आरम्भ के भाग बीजगणित और लीलावती (अङ्क गणित) हैं और इनका अनुवाद कोलब्रूक साहब ने किया और गोलीय त्रिकोणमिति पर गोलाध्याय के अंश का विलकिन्सन साहब ने अनुवाद किया है और उसे प्रसिद्ध गणितज्ञ पण्डित बापूदेव शास्त्री ने शोधा है।

भास्कराचार्य्य के ग्रन्थ में अद्भुत प्रश्नों के विवरण हैं जो कि यूरप में १७ वीं और १८ वीं शताब्दी तक नहीं प्राप्त हुए थे। *बीजगणित ने निस्सन्देह भारतवर्ष में एक अद्भुत उन्नति प्राप्त की थी। बीजगणित की ज्योतिष संबन्धी

* स का निकालना जिसमें अ स^{2} + ब एक वर्ग संख्या हो, इस प्रश्न को हल करने के विषय में एक अद्भुत कथा कही जाती है। फ़र्मेट ने इस प्राचीन प्रश्न को हल करने के सम्बन्ध में कुछ उन्नति की और उसने १७ वीं शताब्दी में इस प्रश्न को अंग्रेजी बीजगणितज्ञों के पास हल करने के लिये भेजा। अन्त में यूलर ने इसको हल किया और उसने उसी बात को प्राप्त किया जिसे कि भास्कर ने सन् ११५० ई० में प्राप्त किया था। भास्कर ने एक दूसरे प्रश्न को एक विशेष रीति से हल किया है और यह ठीक वही रीति है जिसे कि योरप में लोर्ड ब्रोंकर साहब ने सन् १६५७ ई० में आविष्कृत किया था, और इसी प्रश्न का हल जिसे ब्रह्मगुप्त ने सातवीं शताब्दी में दिया है उसके हल करने का निष्फल उद्योग यूलर साहब ने किया था और उसे अन्त में सन् १७६७ ई० में डीलाग्रङ्गे साहब ने पूरा किया। हिन्दुओं की वह प्रिय रीति जो कि कुट्टक के नाम से प्रसिद्ध है, यूरोप में तब तक विदित नहीं हुई थी जब तक कि सन् १६२४ में बेकेट डिमेजेरिएक ने उसे नहीं प्रकाशित किया था।

खोज और रेखागणित सम्बन्धी प्रमाणों में प्रयोग करना हिन्दुओं का विशेष आविष्कार है और जिस रीति से वे उसका प्रयोग करते थे उसने आजकल के यूरोप के गणितज्ञों की प्रशंसा प्राप्त की है।

जब कि भारतवर्ष में ज्योतिष शास्त्र, बीजगणित और अङ्कगणित की इतनी उन्नति हुई तो रेखागणित के शास्त्र का लोप हो गया। हिन्दुओं ने ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी में रेखागणित के मूल नियम निकाले थे और उन्होंने उसे यूनानियों को सिखलाया था; परन्तु जब रेखागणित के नियमों के अनुसार वेदियों के बनाने का प्रचार उठ गया तो रेखागणित पर ध्यान नहीं दिया गया और रेखागणित सम्बन्धी प्रश्न बीजगणित के द्वारा हल किए जाने लगे।

अरबी ग्रन्थकारों ने ईसा की आठवीं शताब्दी में हिन्दुओं के बीजगणित के ग्रन्थों का अनुवाद किया और पिसा देश के लियोनार्डो ने पहिले पहिल आधुनिक यूरोप को इस विद्या से परिचित कराया। त्रिकोणमिति में भी हिन्दू लोग संसार में सब से प्राचीन गुरू जान पड़ते हैं और गणित शास्त्र में उन्होंने उस दशमलव की प्रणाली को निकाला जिसे कि अरब लोगों ने उनसे उद्धृत करके यूरोप में सिखलाया और जो कि आजकल मनुष्य जाति की सम्पत्ति हो गई है।

अध्याय ११।

वैद्यक

दुर्भाग्यवश भारतवर्ष के अन्य शास्त्रों की अपेक्षा हिन्दुओं के वैद्यक शास्त्र पर पहिले के पुरातत्ववेत्ताओं ने बहुत कम ध्यान दिया है और आजकल भी इस विषय में जो बातें संग्रहीत की गई हैं वे पूर्ण नहीं हैं। सन् १८२३ ई० में प्रोफेसर यच यच विल्सन साहब ने "ओरियण्टल मेगेज़ीन" में हिन्दू ओषधियों और वैद्यक शास्त्रों की एक संक्षिप्त आलोचना प्रकाशित की। परिश्रमी यात्री और विद्वान सीसा-डी-कोरस ने सन् १८३५ ई० के जनवरी के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में हिन्दू वैद्यक सिद्धान्तों का तिब्बत भाषा के अनुवादों के अनुसार वर्णन किया था। हिन और एंस्ली साहबों ने भी हिन्दुओं के वैद्यक शास्त्र के विषय में बहुत सी बातें एकत्रित कीं। और सन् १८३७ ई० में लन्दन के किंग्स कालेज के डाक्टर रैली ने उपरोक्त ग्रन्थों की सब बातों को लेकर इस विषय में अपने अनुसन्धान के साथ हिन्दू वैद्यक शास्त्र के पुरातत्व पर अपना प्रसिद्ध लेख प्रकाशित किया। हमारे प्रसिद्ध देशभाई मधुसूदन गुप्त ने जिसने कि पहिले पहिल अङ्ग को काटने के विरुद्ध आज कल के मिथ्या विचारों को दूर किया और जो कलकत्ते के मेडिकल कालेज में शरीर चीरने की विद्या का प्रोफेसर था हिन्दुओं के प्राचीन सुश्रुत नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया और यह प्रमाणित किया कि प्राचीन हिन्दुओं को वैज्ञानिक रीति से शास्त्र सम्बन्धी उद्योग के विरुद्ध कोई मिथ्या विचार नहीं थे, डाक्टर वाइज़ साहब ने जो कि पहिले बंगाल के चिकित्सा

व्यवहार में थे सन् १८४५ ई० में हिन्दुओं की प्राचीन वैद्यक प्रणाली के विषय में एक पुस्तक प्रकाशित की और इसके उपरान्त उसने वैद्यक शास्त्र के इतिहास पर अपनी आलोचना में जो कि लन्दन में सन् १८६८ ई० में छापी गई थी इस विषय को अधिक योग्यता और पूर्णता के साथ लिखा है। उस समय से इस विषय ने हमारे देशवासियों का अधिक ध्यान आकर्षित किया है और हमारे देशहितैषी वैद्य अविनाश चन्द्र कविरत्न अब चरक और सुश्रुत का टीका के सहित एक बहुमूल्य संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

यूरोप में हिन्दू वैद्यक शास्त्र का पुरातत्त्व अभी तक साधारणतः विदित नहीं हो गया है और आर्यों की सब सभ्यता की उत्पत्ति यूनानियों से खोजने की आदत ने पक्षपात रहित खोज को अब तक रोक रक्खा है। डाक्टर वाइज़ साहब का यह कथन ठीक है कि "वैद्यक शास्त्र के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध की बातें केवल यूनान और रोम के ग्रन्थकारों में खोजी गई हैं और वे उस पुराने सिद्धान्त के अनुकूल ठीक की गई हैं जो कि उन सब सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं जिनकी उत्पत्ति कि यूनान से नहीं हुई है। हमलोग बचपन से प्राचीन इतिहास से परिचित रहते हैं और उन घटनाओं को स्मरण करना पसन्द करते हैं जो कि बुद्धि के प्रदीप से दिखलाई गई और हमारे हृदय पर जमा दी गई हैं और उन विचारों को बदलने के लिये उस विषय की पूरी जांच की, नए प्रमाणों पर सावधानी से विचार करने की और निष्कपटता की आवश्यकता है जो कि सदा नहीं पाई जाती। फिर भी सचाई और सरलता हमें इतिहास में जो नई नई बातें विदित हों उनकी जांच करने के लिये विवश करती है जिसमें कि हमें ठीक बातों का पता लग जाय।" स्वयं

यूनानी लोग साधारणतः प्राचीन सभ्यता और विशेषतः वैद्यक शास्त्र को उत्पन्न करने का दावा नहीं करते जिस का दावा कि आधुनिक ग्रन्थकार बहुधा उनके लिये करते हैं। नियार्कस से हमें विदित होता है कि "यूनानी वैद्य लोग सांप के काटने की कोई दवा नहीं जानते थे परन्तु जो लोग इस दुर्घटना में पड़े उन्हें भारतवासी अच्छा कर देते थे।" स्वयं एरियन कहता है कि यूनानी लोग "जब बीमार होते थे तो वे मिथ्यावादियों (ब्राह्मणों) की दवा करते थे जो कि अद्भुत और मनुष्य की शक्ति के बाहर की रीति से उन सब रोगों को अच्छा कर देते थे जो कि अच्छे होने योग्य थे"। डिआस्कोराइड्ज़ जो कि ईसा की पहिली शताब्दी में हुआ है प्राचीन लोगों में ओषधि के विषय में सब से बड़ा ग्रन्थकार है और डाक्टर रौले साहब ने अपनी पूरी जांच से यह दिखलाया है कि उसके ओषधि शास्त्र का कितना अंश हिन्दुओं के अधिक प्राचीन ओषधि शास्त्र से उद्धृत है। यही अवस्था थियोफ्रेसस की भी है जो कि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में हुआ है और टीसियस वैद्य ने जो कि ईसा के पहिले पांचवीं शताब्दी में हुआ है भारतवर्ष का जो वृत्तान्त लिखा है उसमें डाक्टर विल्सन साहब ने दिखलाया है कि भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की आलोचना है। परन्तु प्रमाणों का यह सिलसिला उस समय पूर्ण होता है जब कि हिपोक्रेटीस जो कि "वैद्यक शास्त्र का जन्मदाता" इस कारण कहलाता है क्यों कि उसने यूरप में इस शास्त्र को पहिले पहिल अध्ययन किया, अपने ओषधि शास्त्र को हिन्दुओं से उद्धृत किया हुआ दिखलाता है। हम इस विषय के प्रमाणों के लिये अपने पाठकों को डाक्टर रौले साहब के उत्तम लेख को देखने के लिये कहेंगे। डाक्टर वाइज़ साहब कहते हैं कि

"हम लोग वैद्यक शास्त्र की पहिली प्रणाली के लिये हिन्दुओं के ही अनुगृहीत हैं।"

दुर्भाग्यवश हमें हिन्दुओं की उस सब से प्राचीन वैद्यक प्रणाली का बहुत ही कम अंश अब प्राप्त है जो कि कुरु और पञ्चाल लोगों के समय से उस समय तक प्रचलित थी जब कि सब हिन्दू विद्याओं के शास्त्र बने (१४०० से ४०० ई० पू० तक)। प्राचीन वैद्यक शास्त्र का पीछे के समय के ग्रन्थों में "आयुर्वेद" की भाँति उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इस नाम से किसी विशेष ग्रन्थ का तात्पर्य नहीं था वरन् यह प्राचीन वैद्यक शास्त्र का ही नाम था, ठीक उसी भाँति जैसा कि धनुर्वेद धनुष और शस्त्र चलाने की प्राचीन विद्या का नाम था। प्राचीन आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक शास्त्र नीचे लिखे हुए भागों में बांटा जाता है जिसे कि हम डाक्टर विल्सन साहब के ग्रंथ से उद्धृत करते हैं—

(१) शल्य अर्थात् बाहरी चीजों यथा तीर, लकड़ी, मिट्टी इत्यादि निकालने की विद्या और उनसे जो सूजन और पीप हो जाती है उसकी चिकित्सा और उसी प्रकार से सब गिल्टियों घावों की चिकित्सा।

(२) शलाक्य अर्थात् अंगों के बाहरी रोगों यथा आँख, कान, नाक इत्यादि के रोग की चिकित्सा। इस शब्द की उत्पत्ति शलाका से है जो कि एक पतला चोखा शस्त्र होता है और जो प्राचीन समय से ही प्रचलित रहा होगा।

(३) कायाचिकित्सा अर्थात् देह की चिकित्सा जो कि आजकल के औषधि शास्त्र का काम देती थी और शल्य तथा शलाक्य आजकल की चीर फाड़ का काम देती थी।

(४) भूत विद्या अर्थात् मन की शक्तियों की उस बिगड़ी हुई अवस्था की चिकित्सा, जो कि भूतों के कारण समझी जाती थी।

(५) कुमार भृत्य अर्थात् बच्चों की रक्षा जिसमें बच्चों का प्रबन्ध और उनकी माता और दाइयों के रोगों की चिकित्सा सम्मिलित है।

(६) अगद अर्थात् विष को मारने की औषधि।

(७) रसायन।

(८) बाजीकरन जिससे कि मनुष्यजाति की वृद्धि का उपाय समझा जाता था।

औषधि शास्त्र ने भी अन्य शास्त्रों की नाईं समय पाकर बड़ी उन्नति की और बौद्ध काल में इस शास्त्र के बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गए परन्तु फिर भी प्राचीन बातों में उस भक्ति के साथ जिसके लिये कि सदा से हिन्दू ग्रन्थकार प्रसिद्ध हैं इन पीछे के समय के ग्रन्थकारों ने प्राचीन शास्त्र को आयुर्वेद के नाम से ईश्वर का दिया हुआ लिखा है और उस प्राचीन विद्या और बुद्धि को पीछे समय के कम बुद्धिमान मनुष्यों को केवल समझाना अपना उद्देश्य प्रगट किया है। इन पीछे के समय के अधिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में चरक और सुश्रुत के ग्रन्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं और उन्हीं के ग्रन्थ सबसे अधिक प्राचीन हैं जो कि अब तक वर्तमान हैं। यह विश्वास करने के प्रमाण हैं कि ये प्रसिद्ध ग्रन्थकार बौद्ध काल में हुए हैं परन्तु उनके ग्रन्थ पौराणिक काल में जब कि हिन्दू विद्या और शास्त्रों का साधारणतः पुनर्जीवन हुआ, संकलित किए गए थे। इन ग्रन्थों के नाम दूसरे दूसरे देशों में भी प्रसिद्ध हुए और आठवीं शताब्दी में हारूँ

रसीद के समय में इन ग्रन्थों के अनुवाद से अरब लोग परिचित थे। एक सबसे प्राचीन अरब ग्रन्थकार सेरापियन चरक को ज़र्क के नाम से लिखता है, एक दूसरा अरब ग्रन्थकार एविसेना उसे सिरक के नाम से बताता है, और रहाज़ेज़ जो कि एविसेना के पहिले हुआ है उसे सरक के नाम से लिखता है। इस प्रकार से हिन्दुओं के बौद्धकाल के बने हुए वैद्यक ग्रन्थों को पौराणिक काल में संसार के लिये पहिले पहिल अरब के लोगों ने प्रकाशित किया।

चरक का ग्रन्थ ८ भागों में है जिनके नाम नीचे लिखे जाते हैं।

(१) सूत्रस्थान जिसमें औषधि की उत्पत्ति, वैद्य के कर्तव्य, औषधि की प्रयोग, रोगों की चिकित्सा, औषधि शास्त्र, पथ्य इत्यादि का वर्णन है।

(२) निदानस्थान जिसमें रोगों का यथा ज्वर, रुधिर निकलना, फोड़ा, बहुमूत्र, कोढ़, दमा, पागलपन और मृगी का वर्णन है।

(३) विमानस्थान जिसमें मरी, पथ्य की प्रकृति, रोग के लक्षण और पहिचान, औषधियों के प्रयोग और शरीर के रसों के गुणों का विषय है।

(४) शरीरस्थान जिसमें आत्मा की प्रकृति, गर्भाधान, जातियों के भेद, तत्वों के गुण, शरीर का वर्णन, शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का वर्णन है।

(५) इन्द्रियस्थान जिसमें इन्द्रियों और उनके रोगों का, देह के रंग, बोली के दोष, शरीर और इन्द्रियों के रोग, बल घटने और मृत्यु का वर्णन है।

(६) चिकित्सास्थान जिसमें कि रोगों की चिकित्सा और आरोग्य की वृद्धि, तथा दीर्घायु होने के उपाय का वर्णन है। उसमें ज्वर, जलन्धर, सूजन, बवासीर, अतिसार, पांडु रोग, दमा, खांसी, आंव, कै होना, सुर्ख बाद, प्यास और विष के असर का वर्णन है। उसमें मद्य के नशे को दूर करने, सूजन, मर्म स्थानों के रोग, घाव, गठिया और लकवे को अच्छा करने का वर्णन है।

(७) कल्पस्थान जिसमें कै की औषधि, रेचक की औषधि, विष हटाने वाली औषधि, और औषधि के मंत्रों का विषय है।

(८) सिद्धिस्थान जिसमें औषधियों को शोधने का, मूत्रस्थान, गर्भस्थान, आंतों के लिये पिचकारी लगाने का, फोड़ों का, पिचकारी के प्रयोग का, मर्मस्थानों इत्यादि का वर्णन है।

इस सारे ग्रन्थ में ऋषि आत्रेय ने अग्निवास को शिक्षा दी है। इसकी भूमिका में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने पहिले पहल शिक्षा प्रजापति को दी, प्रजापति ने उसे दोनों अश्विनों को सिखलाया और अश्विनों ने उसे इन्द्र को सिखलया। भरद्वाज ने इसे इन्द्र से पढ़ कर छः ऋषियों को सिखलाया जिसमें अग्निवास एक ऋषि थे।

सुश्रुत सम्भवतः चरक से पीछे का बना हुआ है और उसके विषय में भी ऐसी ही कथा कही गई है कि इन्द्र ने इस शास्त्र को देवताओं के वैद्य धन्वन्तरि को सिखलाया और धन्वन्तरि ने आठ ऋषियों को सिखलाया जिनमें से सुश्रुत शिक्षाओं को शुद्ध शुद्ध लिखने को चुना गया था।

सुश्रुत के ग्रन्थ के विभाग भी चरक से बहुत मिलते हैं परन्तु चरक ने मुख्यतः औषधियों का वर्णन किया है और

सुश्रुत ने अपने छओ भागों में जिनका कि नीचे उल्लेख किया जाता है मुख्यतः शस्त्र वैद्यक को लिखा है।

(१) सूत्रस्थान में औषधियों, शरीर के तत्वों और भिन्न भिन्न रोगों, वैद्यक के शस्त्रों और औषधियों को चुनने और शस्त्र का प्रयोग करने के उपरान्त की चिकित्सा का वर्णन किया है। उसके उपरान्त रक्त मय और शस्त्र वैद्यक संबंधी रोगों का तथा बाहरी वस्तुओं को निकालने और घाव तथा फोड़ों को अच्छा करने का वर्णन है, इनके सिवाय और भी अनेक विषयों का वर्णन है।

(२) निदानस्थान में रोगों के लक्षण और पहिचान का विषय है। इसमें गठिया, बवासीर, पथरी, भगन्दर, कोढ़, बहुमूत्र आदि के कारणों का वर्णन है। प्रसव कर्म में स्वभाव विरुद्ध बातों के होने, भीतरी सूजन, मुखवाद, गलगण्ड, जलन्धर और जननाने वाली इन्द्रियों तथा मुँह के रोगों पर विचार किया गया है।

(३) शारीरस्थान अर्थात् शरीर चीरने की विद्या जिसमें शरीर की बनावट का वर्णन है। इसमें आत्मा और शरीर के मूलभाग, युवावस्था, गर्भ और शरीर की वृद्धि के विषयों पर विचार किया गया है। रक्त निकलने और गर्भाधान तथा बच्चों की चिकित्सा के विषय में भी विचार किया गया है।

(४) चिकित्सास्थान जिसमें रोग, घाव, फोड़े, सूजन, टूटन, गठिया, बवासीर, पथरी, भगन्दर, कोढ़, बहुमूत्र और जलन्धर के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है। गर्भ में असाधारण स्थिति से बच्चों को निकालने की रीति तथा अन्य विषयों का भी वर्णन है। पिचकारी लगाने, नास लेने और दवाइयों के धूओं के प्रयोग का भी वर्णन है।

(५) कल्पस्थान में विष उतारने वाली दवाइयों का वर्णन है। खाने और पीने की वस्तुओं को बनाने और रक्षित रखने और जहर के भोजन को पहिचानने के उपाय वर्णन किये गए हैं और भिन्न भिन्न धातु, वनस्पति और जीवधारियों के विषों के उतारने का भी वर्णन किया गया है।

(६) उत्तरस्थान में अनेक स्थानिक रोगों यथा आँख, कान, नाक और सिर के रोगों का वर्णन है। इसके सिवाय अनेक रोगों की चिकित्सा का यथा ज्वर, अतिसार, दमा, फोड़े, हृदय के रोगों, पाण्डुरोग, रक्त निकलने, मूर्छा, नशे, खाँसी, हुचकी, क्षई, गला बैठने, क्रिमी रोगों, रद्द होने, हैजा, आँव, पागलपन, भूत के आवेश, मिरगी और मूर्छा का वर्णन है।

चरक और सुश्रुत के विषयों के ऊपर लिखे हुए संक्षिप्त विवरण से प्राचीन समय में वैद्यक शास्त्र की उन्नति तथा जिन रोगों पर वैद्यों का ध्यान गया था, वह विदित होजायगा निस्सन्देह बहुतेरे प्राचीन सिद्धान्त अब कल्पित दिखलाए गए हैं और उस समय के बहुतेरे विचारों की अब असत्यता दिखलाई गई है। परन्तु फिर भी दो हजार वर्ष पूर्व के बने हुए वैद्यक के पूर्ण ग्रन्थों से प्राचीन समय में भारतवर्ष में इस शास्त्र की उन्नति प्रगट होती है और इन ग्रन्थों में जो औषधियां और नुकसे लिखे गए हैं वे भी बहुत से तथा भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। हमारा अभिप्राय यहां पर हिन्दुओं की औषधि और चिकित्सा प्रणालियों के पूर्ण विवरण को देने का नहीं है। हम यहां केवल उनमें से कुछ औषधियों और वैद्यक के शस्त्रों का उल्लेख करेंगे जो कि प्राचीन हिन्दुओं को विदित थे।

हिन्दू लोग बहुत पहिले से रसायन और भिन्न भिन्न रासायनिक मिश्रणों का बनाना जानते थे। और यह बात कोई अचरज की नहीं है क्योंकि बहुत से रासायनिक पदार्थों को तयार करने की सामग्रियां भारतवर्ष में बहुतायत से रही हैं। नमक पश्चिमी भारतवर्ष में पाया जाता था, सोहागा तिब्बत से आता था। शोरा और सोडा सहज में बन जाते थे, फिटकिरी कच्छ में बनती थी और नौसादर भी हिन्दुओं को विदित था। वे लोग चूने, कोयले, और गन्धक से तो न जाने कब से परिचित थे।

खार और तेजाब हिन्दुओं को प्राचीन समय से ही विदित थे और उनसे अरब लोगों ने इन्हें जाना। धातुओं का औषधि की भांति प्रयोग भी बहुत अच्छी तरह से विदित था। हमें सुरमें तथा पारे, संखिये और अन्य नौ धातुओं की बनी औषधियों का उल्लेख मिलता है। हिन्दू लोग तांबे, लोहे, सीसे, टिन, और जस्ते के अम्लजिद से, लोहे, तांबे, सुरमे, पारे और संखिये के गन्धेत से, तांबे, जस्ते और लोहे के गन्धित से, तांबे के छियक्लेत तथा सीसे और लोहे के कर्बनेत से परिचित थे। "यद्यपि प्राचीन यूनान और रोम के लोग बहुतेरी धातुओं की वस्तुओं का लगाने की औषधियों में प्रयोग करते थे तथापि यह साधारणतः विश्वास किया जाता है कि खाने की औषधि में उनका पहिले पहल प्रयोग करने वाले अरबी लोग थे" परन्तु चरक और सुश्रुत के ग्रन्थों में, जिससे, हम प्रमाणित कर चुके हैं कि सब से पहिले अरब लोग परिचित थे, हमें बहुतेरी धातुओं की वस्तुओं का खाने की औषधि के लिये प्रयोग मिलता है।

अनेक वस्तुओं के बनाने की जो रीतियां दी हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू लोग बहुतेरी रासायनिक क्रियाओं से यथा घोलने, भाफ बनाने, भस्म करने, थिराने, और अर्क खींचने की क्रियाओं से परिचित थे।

जड़ी और पौधों के विषय में सुश्रुत ने उनके निम्न लिखित विभाग किए हैं अर्थात गढ़ीली और कन्द, जड़, जड़ की छाल, विशेष सुगन्धि रखने वाले वृक्ष, पत्ते, फूल, फल, बीज, तीखी और संकोचक वनस्पति, दूधवाले वृक्ष, गोंद और राल। सम्भवतः सुश्रुत में जड़ी बूटी सम्बन्धी भूगोल का सब से प्रथम उल्लेख है जिसमें कि पौधों के ऊगने के स्थानों और जलवायू का वर्णन किया है। वह औषधि के लिये तौल और नाप को भी लिखता है और ताजी जड़ी बूटियों से रस निकालने, अच्छी तरह सुखाए हुए पौधों के चूर्ण बनाने तथा अनेक प्रकार के काढ़े आदि बनाने की रीति भी देता है। भारतवर्ष में वनस्पति प्रायः असंख्य हैं और यह कहना अनावश्यक है कि हिन्दू वैद्य लोग बहुत प्रकार की जड़ी बूटियों से परिचित हैं। उनमें से बहुत सी पीड़ा घटाने वाली और शुद्ध करनेवाली औषधियां हैं जो कि इस देश की जलवायू और यहां के लोगों की शान्त प्रकृति के योग्य हैं। अचाञ्चक और कड़ी अवस्थाओं के लिये कड़े और नरम जुल्लाब, कै की औषधियां, पसीना लाने वाली औषधियां और स्नान थे और तीखे विष, संखिये और पारे की मिलावटी तथा जमाव और मिलानेवाली औषधियों के साथ दिए जाते थे।

अब शस्त्र वैद्यक की ओर ध्यान देने से हमें निस्सन्देह आश्चर्य होगा। शैली साहेब कहते हैं "इन प्राचीन शस्त्र

वैद्यों को पथरी निकालने तथा पेट से गर्भ निकालने की क्रिया विदित थी और उनके ग्रन्थों में पूरे १२७ शास्त्रों का वर्णन किया हुआ है। शस्त्र वैद्यक इन भागों में बँटा हुआ है अर्थात् छेदन, भेदन, लेखन, व्याधन, यम, अहैर्य्य, विश्रवण और सेवन। ये सब कार्य्य बहुत प्रकार के वैद्यक शस्त्रों से किए जाते थे जिन्हें कि डा० विल्सन साहब निम्नलिखित भागों में बांटते हैं अर्थात् यन्त्र, शस्त्र, क्षार अग्नि वा दागना, शलाका, शृंग वा सींग, खून निकालने के लिये तुम्बी और जलौक वा जोंक। इनके सिवाय हमें तो पत्तियाँ, पट्टी, धागे के लिये गरम की हुई धातु की चद्दर और अनेक प्रकार के संकोचक और कोमलकारी लेप भी मिलते हैं।

यह कहा गया है कि शस्त्र सब धातु के होने चाहिएं। वे सदा उज्वल सुन्दर पौलिश किए हुए और चोखे होने चाहिएं जो बाल को खड़े बल चीर सकें। और युवा अभ्यास करने वाले को इन शस्त्रों का अभ्यास केवल वनस्पतियों पर ही नहीं वरन पशुओं की ताजी खाल और मरे हुए पशुओं की नसों पर करके निपुणता प्राप्त करनी चाहिए।

हमारे हिन्दू पाठकों को यह जानना मनोरञ्जक होगा कि जब आजकल भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये विदेशियों की विद्या और निपुणता की आवश्यकता होती है तो २२०० वर्ष पहिले सिकन्दर ने अपने यहां उन लोगों की चिकित्सा के लिये हिन्दू वैद्यों को रखा था जिनकी चिकित्सा कि युनानी नहीं कर सके थे और ११०० वर्ष हुए कि बगदाद के हारूनरसीद ने अपने यहाँ दो हिन्दू वैद्य रखे थे जो कि अरबी ग्रन्थों में मनका और सलेह के नाम से विख्यात हैं।

अध्याय १२।

नाटक

इस काल में विज्ञान में जितनी उन्नति हुई उससे कहीं अधिक और अद्भुत उन्नति संस्कृत साहित्य के नाटक और काव्य में हुई। आर्यभट्ट और चरक की अपेक्षा कालिदास और भवभूति हिन्दुओं तथा संसार की दृष्टि में अधिक मान्य हैं।

इस पुस्तक में पीछे के समय के संस्कृत साहित्य का इतिहास देना न तो सम्भव ही है और न ऐसा करने का हमारा उद्देश्य ही है। हम केवल सब से प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के नाम तथा उनके सब से अद्भुत ग्रन्थों का बड़े संक्षेप में वर्णन करेंगे। इससे हमारे पाठकों को इस काल के साहित्य का साधारण ज्ञान प्राप्त हो जायगा और हम इस पुस्तक में केवल इतना ही करने का यत्न कर सकते हैं। हम इस अध्याय में नाटकों का तथा आगामी अध्यायों में काव्य और कथाओं का वर्णन करेंगे।

जिस उज्वल काल का हम वर्णन कर रहे हैं वह प्रसिद्ध कालिदास के समय से आरम्भ होता है और सरस्वती के इस पुत्र ने यद्यपि कई बड़े उत्तम ग्रन्थ बनाए हैं पर वह सभ्य सृष्टि में मुख्यतः शकुन्तला के ग्रन्थकार की भाँति परिचित है। जिसने संस्कृत में इस नाटक को पढ़ा है वह हिन्दू ही नहीं वरन् कोई भी क्यों न हो पर उसकी सम्मति यही होगी कि नम्र और कोमल हृदयवाली बनवासिनी शकुन्तला से बढ़ कर मृदु और मनोहर कल्पना मनुष्य की लेखनी से कभी नहीं निकली है।

राजा दुष्यन्त अहेर के लिए जाता है और कन्व ऋषि के आश्रम में पहुंचता है। कुञ्जों में साधारण वेश में चलते हुए वह तीन युवतियों को वृक्ष में जल सींचते हुए देखता है। यह कहना अनावश्यक है कि युवतियाँ शकुन्तला (जो कि मनुष्य पिता से अप्सरा की कन्या थी) तथा उसकी दो सखियाँ हैं। शकुन्तला को बचपन से कन्व ऋषि ने पाला था और उसने वन के इन्हीं एकान्त स्थानों में अपनी वनवासिनी साथिनियों, अपने वृक्षों और पालतू पशुओं में ही अपनी सुन्दर युवावस्था को प्राप्त किया था। दुष्यन्त जो कि राजसभाओं की बनावटी सुन्दरता से परिचित था प्रकृति की इस सुन्दर पुत्री को देख कर मोहित हो गया और उसने जो छाल के वस्त्र पहिने थे उससे उसकी सुन्दरता और भी अधिक हो गई थी, उस सुन्दर फूल की नाईं जिसको पत्तियाँ ढके रहती हैं। उसे इस युवती तथा उसकी सखियों के सम्मुख आने का उपयुक्त अवसर मिला, उनमें कुछ बातें हुईं और कोमल शकुन्तला के हृदय में एक ऐसा भाव उत्पन्न हुआ जैसा कि उसके सारे जीवन में पहिले कभी नहीं हुआ था।

प्रेम ने शकुन्तला के कोमल अंग पर अपना प्रभाव डाला और जब दुष्यन्त उससे पुनः मिलने आया तो वह उस माधवी लता की नाईं हो गई थी जिसके पत्ते सूखी हवा से मुरझा गए हों, परन्तु यह परिवर्तन होने पर भी वह मनोहर और उसके हृदय को उलझाने वाली थी। इन दोनों प्रेमियों ने मिलकर गान्धर्व विवाह की रीति से अपना सम्बन्ध दृढ़ कर लिया। तब दुष्यन्त शकुन्तला को अपनी अंगूठी देकर और उसे शीघ्र ही अपनी राजधानी में ले चलने की प्रतिज्ञा करके उससे बिदा हुआ।

अब नाटक का मनोरञ्जक भाग आरम्भ होता है।

शकुन्तला अपने अनुपस्थित पति का सोच करती हुई एक बड़े क्रोधी ऋषि का उचित सम्मान करना भूल गई जो कि उसके आश्रम में अतिथि की नाईं आए थे। इस क्रोधी ऋषि ने इस असावधानी पर बड़े कुपित होकर यह शाप दिया कि वह जिस पुरुष के ध्यान में इतनी लीन है वह उसे भूल जायगा। परन्तु उसकी सखियों की प्रार्थना पर शान्त होकर उस ऋषि ने अपने वाक्य का कुछ परिवर्तन किया और कहा कि उसे अपनी दी हुई अंगूठी देखकर पुनः उसका स्मरण हो जायगा। अतः दुष्यन्त अपने इस प्रेम को भूल गया और शकुन्तला जो कि गर्भवती हो गई थी अपने एकान्त आश्रम में मुरझा कर क्षीण होने लगी।

उसके पालनेवाले पिता कन्व ने यह सब वृत्तान्त जान लिया और शकुन्तला को उसके पति के यहां भेजने का प्रबन्ध किया। यह समस्त नाटक बड़ा हृदयबेधक है परन्तु उसका कोई अंश इतना अधिक कोमल और हृदयवेधक नहीं है जितना कि शकुन्तला का अपने इस शान्त आश्रम के साथियों और पशुओं के साथ बिदा होना, जहां कि वह इतने काल तक रही थी। कन्व का हृदय शोक से भरा हुआ है और उसकी आँखों से आँसू की धारा बह रही है। अदृश्य वन देवियां शोक के साथ उससे बिदा होती हैं, शकुन्तला की दोनों सखियां अपनी प्यारी बिदा होनेवाली सखी से जुदा नहीं हो सकतीं। स्वयं शकुन्तला ने इतने दिनों तक जिनको प्यार किया था और जिनको पालापोसा था उनसे जुदा होने में वह विह्वल होगई।

शकुन्तला—हे पिता जब यह कुटी के निकट चरने वाली गाभिन हरिनी क्षेम कुशल से जने तुम किसी के हाथों यह मंगल समाचार मुझे कहला भेजना, भूल मत जाना।

कन्व—अच्छा न भूलूँगा।

शकुन्तला—(कुछ चल कर और फिर कर) यह कौन है जो मेरा अंचल नहीं छोड़ता (पीछे फिर कर देखती है)।

कन्व—जिसका मुँह दाभ से चिरा हुआ देख कर घावों पर तू अपने हाथ हिंगोट का तेल लगाती थी, जिसे तैने समा के चावल खिला खिला कर पाला है और अपने बेटे की भाँति लाड़ चाव किया है सो इस समय तेरे पैर क्योंकर छोड़ेगा।

शकुन्तला—अरे छौना मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता है। तेरी माँ तुझे जनते ही छोड़ मरी थी तब मैंने तेरा पालन किया। अब मेरे पीछे पिताजी तुझे पालेंगे। तू लौट जा। [लक्ष्मणसिंह]

नाटक में रंजकता बढ़ चली। शकुन्तला का पति उसे भूल गया था और वह अंगूठी जिससे कि उसे उसका स्मरण हो सकता था मार्ग में खोगई। दुष्यन्त ने शकुन्तला तथा उसके साथियों का बड़ी शिष्टता से स्वागत किया परन्तु उसने अज्ञात और गर्भवती स्त्री को अपनी पत्नी की भांति अंगीकार करना स्वीकर नहीं किया। बिचारी शकुन्तला इस आपत्ति से प्रायः अधमरी सी होगई क्योंकि वह इसका कारण नहीं जानती थी। उसने ऋषि का शाप नहीं सुना था और उसकी सखियों की प्रार्थना पर ऋषि ने शाप से निवृत्त होने का जो उपाय बतलाया था उसे भी वह नहीं जानती थी। उसने दुष्यन्त को उन पूर्व परिचित घटनाओं के स्मरण दिलाने का व्यर्थ उद्योग किया जो कि दुष्यन्त के आश्रम में रहने के समय में हुई थीं और अन्त में वह दुःख और शोक से रोने लगी। उसके साथियों ने उसे महल में छोड़ दिया और उसके लिए अलग स्थान दिए गए परन्तु वह एक अपूर्व घटना के द्वारा इससे अधिक अपमान सहने से बचा ली

गई। एक स्वर्ग की अप्सरा ज्योति के रूप में उतरी और उसे इस पृथ्वी पर से ले गई जहां कि निस्संदेह उसके दिन दुखदाई और कठोर थे।

अब एक ऐसी घटना हुई जिससे राजा को पिछली बातों का स्मरण हो गया। एक मछुए ने एक मछली पकड़ी जो कि उस अंगूठी को निगल गई थी जो कि शकुन्तला के हाथ से उस नदी में गिर पड़ी थी और इस अंगूठी को देख कर राजा को सब पिछली बातों का एकदम स्मरण हो आया। शकुन्तला का प्रेम दसगुना भड़क उठा और उसने इस कोमल तथा प्रेम और विश्वास करने वाली युवती के साथ जो कठोर अन्याय किया था उसके दुःख ने उसे पागल बना दिया। उसने सब राज काज छोड़ दिया, वह आहार और निद्रा भूल गया और कठोर पीड़ा में मग्न हो गया।

इस अचेत अवस्था से उसे इन्द्र के सारथी ने जागृत किया और इन्द्र की ओर से उसने दानवों के विरुद्ध राजा से सहायता मांगी। राजा स्वर्गीय विमान पर चढ़ा, उसने दानवों को विजय किया और तब वह देवताओं के पिता कश्यप के स्वर्गीय आश्रम में लाया गया जहां कि अपनी पत्नी अदिति के साथ वे पवित्र एकान्त में वास करते थे।

वहां पर राजा ने एक छोटे बलवान बालक को सिंह के बच्चे के साथ खेलते हुए देखा।

दुष्यन्त—(आपही आप) अहा क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता आता है जैसा पुत्र में होता है। हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूं। [लक्ष्मणसिंह]

पाठक लोग निस्संदेह देखेंगे कि यह बालक स्वयं उस राजा का ही पुत्र था। शकुन्तला को दयालु देवताओं ने

लाकर राजा को पिछली बातों का स्मरण होने के समय तक यहां रखा था और जब शकुन्तला सम्मुख आई तो दुष्यन्त ने घुटनों के बल होकर क्षमा की प्रार्थना की और प्रेममयी शकुन्तला ने उसे क्षमा किया। तब यह जोड़ी बालक के सहित कश्यप और अदिति के सम्मुख लाई गई और इन दोनों पवित्र महानुभावों के आशीर्वाद के साथ यह नाटक समाप्त होता है।

कालिदास के दो अन्य नाटक रह गए हैं। विक्रमोर्वसी में राजा पुरुरवस और स्वर्गीय अप्सरा उर्वसी के प्रेम का वर्णन है। हमें विदित है कि यह कथा ऋग्वेद के समान प्राचीन है और अपने पहिले रूप में यह सूर्य्य (पुरुरवस = चमकीली किर्णों वाला) का प्रभात (उर्वसी = अतिविस्तृत) के पीछा करने की कथा है। परन्तु उस समय से इस कथा की उत्पत्ति हिन्दुओं के हृदय से लुप्त हो गई है और कालिदास तथा पुराणों का पुरुरवस एक मानवी राजा माना गया है जिसने कि उर्वसी नाम की अप्सरा की दानवों से रक्षा की और जो उसके प्रेम में आशक्त होगया और उर्वसी भी राजा पर आशक्त होगई। यह अपसरा इस मनुष्य के प्रेम में इतनी लीन हो गई थी कि जब वह इन्द्र की सभा में एक नाटक का अभिनय करने गई तो वह अपना अंश भूल गई और अपने प्रियतम का नाम भूल से लेकर उसने अपने हृदय की गुप्त बात को प्रगट कर दिया।

उर्वसी लक्ष्मी बनी थी और मेनका वरुणी बनी थी। मेनका कहती है।

"लक्ष्मी, भिन्न भिन्न मंडलों का शासन करने वाली शक्तियां यहां उपस्थित हैं। इनके शिरोमणि सुन्दर केशव हैं। कह तेरा हृदय किस पर जाता है।"

उसके उत्तर में उसे कहना चाहिए था "पुरुषोत्तम पर" परन्तु उसके पलटे में उसके मुँह से "पुरूरवा पर" निकल गया। इस भूल के लिये इस कोमल अप्सरा को दण्ड दिया गया परन्तु इन्द्र ने बड़ी सावधानी से इस दण्ड को अशीर्वाद के रूप में परिवर्तित कर दिया और इस अप्सरा को अपने प्रियतम के साथ जाकर तब तक रहने के लिये कहा जब तक कि वह उससे उत्पन्न हुए बच्चे को न देखले।

पुरूरवा ने अपने इस नए प्रेम को अपनी रानी से व्यर्थ छिपाने का उद्योग किया और व्यर्थ उसके पैरों पर गिर कर झूठ मूठ का पश्चात्ताप प्रगट किया। रानी ने कुछ असभ्यता से उत्तर दिया।

"आर्यपुत्र, आप विचित्र पश्चात्ताप करते हैं। मुझे आप पर विश्वास नहीं होता।"

और उसने राजा को बड़े निष्ठुर परन्तु बड़ी बुद्धिमानी के विचार के लिये छोड़ दिया।

"मैंने अपने को यह कष्ट वृथा दिया। स्त्रियां स्पष्टदर्शी होती हैं और केवल शब्द उनके मन को भुलावा नहीं दे सकता, प्रेम ही उनको जीत सकता है। अपनी विद्या में निपुण रत्न काटने वाला झूठे रत्नों को उपेक्षा से देखता है।

परन्तु रानी ने शीघ्र ही देखा कि उसके पति के नए स्नेह का कोई उपाय नहीं था और उसका क्रोध निरर्थक था! इन्द्रपत्नी के आत्मत्याग के साथ उसने अपने पूर्व आचरण के प्रायश्चित के लिये व्रत धारण किया और अपने पति को उसके नए प्रेम में भी आशक्त होने दिया। श्वेत वस्त्र पहिन कर आभूषण के स्थान पर केवल फूलों को धारण करके वह धीरे धीरे अपने पति और राजा की पूजा

के लिये आई और उसे इस वेष में देख कर राजा को उसके लिये पहिला सा स्नेह हो आया ।

"वास्तव में यह बात मुझे अच्छी लगती है । इस प्रकार साधारण श्वेत वस्त्रों को पहिन कर, पवित्र फूलों से अपनी जटों को सज्जित कर, तथा अपनी मत्त चाल को सच्ची भक्ति में परिवर्तित कर वह वर्धित सौन्दर्य से चल रही है ।"

परन्तु वह जानती थी कि उसकी सुन्दरता निरर्थक थी । उसने राजा की पूजा की उसको दण्डवत किया और तब चन्द्रमा और रोहिणी नक्षत्र को कहा ।

"पति प्रति मेरी इस प्रतिज्ञा को सुनो और उसकी साक्षी करो । जो कोई अप्सरा मेरे पति की स्नेह भाजन हो और उसके प्रेम पाश में बँधे उससे मैं दया के साथ अच्छा व्यवहार करूंगी" ।

स्वयं उर्वसी की सखी को भी इस महान् आत्म त्याग से बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा ।

"यह बड़े उच्चमन की स्त्री है । इसका भार्याचरित्र आदर्शनीय है" ।

इसके उपरान्त राजा और उर्वसी का प्रेम और उनका एक दैवी घटना के द्वारा थोड़े समय के लिये वियोग होने का कालिदास की लेखनी की पूरी शक्ति के साथ वर्णन है ।

वह इस वियोग में सूख गया, बन में इधर उधर घूमने लगा और पशु पक्षी तथा निर्जीव वस्तुओं से बात करने लगा ।

"जाइ आँख्यों मखतमंडित शिखी सों नियराइ ।
मदन राग अलापिनी इन कोकिलन सों धाइ ॥
और कुञ्जरवृन्द-अधिपति सों अनेक प्रकार ।
तथा मधुकर सों फिरत जो करत मृदु गुञ्जार ॥

हंस औ कल-नाद-कारी विमल झरनन टेरि ।
विहग चकवा, गिरि शिला, अरु चपल हरिनहिं हेरि ॥
खोज में बहु याचना इन सों करी मैं जाय ।
पै नहीं मम दुःख को इन कियो हलको, हाय !"

उसने भ्रमण के उपरान्त उसे पाया परन्तु फिर भी उसके वियोग की आशंका थी । क्योंकि उससे उर्वसी को जो पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे उर्वसी ने उससे अब तक छिपा रक्खा था, उसे दैवात् उसने देख लिया और इन्द्र की आज्ञा के अनुसार उसकी दृष्टि उस पुत्र पर पड़ते ही उर्वसी को स्वर्ग को लौट जाना पड़ता । परन्तु इन्द्र ने अपनी आज्ञा में फिर परिवर्तन कर दिया और नारद स्वर्ग से इन्द्र की आज्ञा पुरुरवा को सुनाने के लिये आए—

"सदा पवित्र बन्धनों से उर्वसी आजीवन तेरे साथ रहेगी" ।

तीसरा और अन्तिम नाटक जो कालिदास का बनाया हुआ कहा जाता है, मालविकाग्निमित्र है जिसमें मालविका और अग्निमित्र की प्रीति का वर्णन है। परन्तु हमें इस ग्रन्थ के कालिदास का रचा हुआ होने में बड़ा सन्देह है। अग्निमित्र और उसके पिता पुष्पमित्र ऐतिहासिक राजा हैं। पुष्पमित्र मौर्यवंश के अन्तिम राजा का सेनापति था और उसने उस राजा को मार कर मगध के सुंग वंश को स्थापित किया था ।

मालविका राजमहिषी धारिणी की एक सुन्दर दासी है, और वह नाचना गाना सीखती है । रानी ने उसे शंका से राजा अग्निमित्र की दृष्टि से बचाया परन्तु उस चित्रशाला में उसका चित्र भूल से खिंचवाया था और इस चित्र को देख कर राजा को मालविका के देखने की बड़ी उत्कंठा

हुई। मालविका राजा के सम्मुख नृत्य और गान में अपनी चतुराई दिखलाने के लिये उपस्थित हुई और राजा उस पर मोहित होगया।

रानी ने मालविका को ताले में बन्द कर दिया परन्तु वह एक युक्ति से निकाल ली गई और राजा से उसका साक्षात् हुआ।

यह समाचार मिला कि राजा के पुत्र ने सिंधनदी के तट पर यवनों को पराजित किया और रानी इस समाचार को सुन कर इतनी प्रसन्न हुई कि उसने सबको बहुत सा पुरष्कार दिया और कदाचित यह विचार कर कि राजा की प्रीति को रोकना निरर्थक है उसे मालविका को अर्पण किया। इस प्रकार यह नाटक सुख से समाप्त होता है परन्तु न तो इसकी कहानी और न इसका काव्य शकुन्तला या विक्रमोर्वसी की बराबरी का है।

कालिदास छठीं शताब्दी में हुए हैं, और वह विक्रमादित्य के दर्बार को सुशोभित करते थे। उनके १०० वर्ष के उपरान्त भारतवर्ष के एक सम्राट ने जो कि अधिकार और विद्या में विक्रमादित्य का एक योग्य उत्तराधिकारी था, प्रसिद्ध कालिदास की बराबरी करने का उद्योग किया। यह शीलादित्य द्वितीय था जिसे श्रीहर्ष भी कहते हैं, जिसने सन् ६१० से ६५० ई० तक राज्य किया और जिसने चीन के यात्री ह्वेन्तसांग का स्वागत किया था। वह केवल सारे उत्तरी भारतवर्ष का सम्राट ही नहीं था वरन् स्वयं एक विद्वान् मनुष्य था। वह रत्नावली का ग्रन्थकार कहा जाता है, परन्तु यह अधिक सम्भव है कि उसकी सभा के प्रसिद्ध ग्रन्थकार बाणभट्ट ने इस नाटक को रचा हो। कालिदास का

यश उस समय तक सारे भारतवर्ष में फैल गया था और छोटे छोटे कवि अपने ग्रन्थ अनजाने इसी महान कवि के ढंग पर रचते थे। यह बात रत्नावली में विशेषतः देखी जाती है जिसमें कि कालिदास के नाटकों की वाक्यचोरी स्पष्ट मिलती है।

यह नाटक वसन्तोत्सव के वर्णन से आरम्भ होता है, जिसमें कि कामदेव की पूजा की जाती थी और प्रसन्न हृदय मनुष्य और स्त्रियाँ एक दूसरों पर रंग छिड़कते थे। गुलाल और रंग छिड़कने की रीति अब तक भी सारे भारतवर्ष में प्रचलित है। परन्तु प्राचीन समय में जो कामदेव की पूजा होती थी उसका स्थान अब कृष्ण ने ले लिया है।

रानी वाटिका में प्रद्युम्न की पूजा करने जाती है और राजा से वहां आने के लिये प्रार्थना करती है, रानी की एक सुन्दर दासी सागरिका भी जिसे कि रानी ने राजा की दृष्टि से बड़े यत्न के साथ बचाया था वाटिका में आई, और वह वृक्ष की आड़ से राजा को देखकर उस पर मोहित हो गई।

वाटिका में एकान्त में बैठकर इस प्रेमासक्त युवती ने अपने हृदय को चुराने वाले का चित्र खींचा परन्तु उसे उसकी एक सखी ने देख लिया जो कि उसी के समान चित्रकारी में निपुण थी और उसने राजा के चित्र के पास स्वयं सागरिका का चित्र खींचा। ये दोनों चित्र असावधानी से खो गए और वे राजा के हाथ लग गए जो कि अपने साथ इस युवती का चित्र देखकर उस पर मोहित हो गया। इस कथा में अग्निमित्र की कथा की समानता न पाना असम्भव है जिसमें कि अग्निमित्र अपनी रानी की दासी के चित्र को देखकर उस पर मोहित हो गया था।

कालिदास के दुष्यन्त की नाईं राजा उन कमल के पत्रों को उठाता है जो कि सागरिका के तप्त शरीर पर लगाए गए थे और उनके पीले वृत्तों में इस युवती की सुडौल छाती का चिन्ह आता है। इसके उपरान्त शीघ्र ही ये दोनों प्रेमी मिलते हैं परन्तु सदा की नाईं यहां भी उन दोनों के मिलने में रानी के कुसमय के आगमन से बाधा पड़ती है। एक बार पुनः रानी को सागरिका पर राजा के प्रेम का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कालिदास के पुरूरवा की नाईं राजा रानी के चरणों पर गिर पड़ता है परन्तु रानी क्रोध में भरी हुई लौट जाती है।

मालविका की नाईं प्रेमासक्त सागरिका को रानी ताले में बन्द करती है। तब उज्जयिनी से एक जादूगर आता है और अपने खेल दिखलाता है। इसके उपरान्त शीघ्र ही राजभवन जलता हुआ दिखलाई देता है और राजा सागरिका को बचाने के लिये जो कि भीतर कैद रक्खी गई थी दौड़ता है और उसे बचा लेता है। परन्तु आग अब लोप हो जाती है। वह जादूगर का केवल एक खेल था! जब सागरिका बाहर निकली है तो यह पहिचाना जाता है कि वह लंका की रानी रत्नावली है और मालविका की नाईं अन्त में रत्नावली को भी रानी स्वयं राजा को अर्पण कर देती है।

एक दूसरा अद्भुत नाटक नागानन्द भी शीलादित्य द्वितीय का बनाया कहा जाता है परन्तु रत्नावली की नाईं यह अधिक सम्भव है कि इस ग्रन्थ को भी उसकी सभा के किसी कवि ने बनाया है। हम इसे अद्भुत ग्रन्थ कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्भवतः यह केवल एक ही बौद्ध नाटक है जो कि अब हम लोगों को प्राप्त है। इस बौद्ध नाटक

में हम हिन्दू देवता और देवियों को बौद्धों की पूज्य वस्तुओं के साथ मिश्रित पाते हैं और यही बात है जो कि इस ग्रन्थ को विशेष मूल्यवान् बनाती है।

विद्याधरों का राजकुमार जीमूतवाहन सिद्धों की राजकुमारी मलयावती को गौरी (एक हिन्दू देवी) की पूजा करते हुए देखता है और उस पर आसक्त हो जाता है वह उसके सम्मुख उपस्थित होता है जैसे कि दुष्यन्त शकुन्तला के सम्मुख हुआ था और वह उसका सुशीलता से सत्कार करती है और कदाचित यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह भी राजकुमार पर आसक्त हो जाती है। शकुन्तला की नाईं मलयावती में भी प्रेम का चिरपरिचित प्रभाव देख पड़ता है। वह ज्वर ग्रस्त हो जाती है, उसके शरीर में चन्दन का लेप किया जाता है और केले के पत्ते से हवा की जाती है।

जीमूतवाहन अपने हृदय को चुराने वाली युवती का चित्र खींचने में लगता है। वह चित्र खींचने के लिये लाल संखिए का एक टुकड़ा माँगता है और उसका साथी भूमि में से कुछ टुकड़े उठा लाता है जिससे कि पांच रंग (नीला पीला, लाल, भूरा, और चित्र विचित्र) लिखे जा सकते हैं। इस वृत्तान्त से विदित होगा कि प्राचीन हिन्दू लोग पोम्पिआई के पुराने चित्रकारों की नाईं चित्रकारी के लिये रंग बिरंग की मिट्टी और धातु को काम में लाते थे।

मलयावती राजकुमार को चित्र खींचते हुए देखती है और यह समझ कर कि वह किसी दूसरी स्त्री पर मोहित है और उसका चित्र खींच रहा है मूर्छित होजाती है। इस बीच में मलयावती का पिता जीमूतवाहन को अपनी पुत्री के विवाह के लिये सँदेसा भेजता है और जीमूतवाहन यह न जानकर कि

जिस युवती को उसने देखा था वह यही राजकुमारी है और अपनी प्रियतमा के साथ धर्मपालन करने की अभिलाषा से राजकुमारी का पाणिग्रहण स्वीकार नहीं करता ।

परन्तु दोनों प्रेमियों की भूल शीघ्र ही दूर हो जाती है । राजकुमार को विदित होजाता है कि जिस युवती पर वह आसक्त हुआ है वह यही राजकुमारी है जिसके विवाह के लिये उससे कहलाया गया है और राजकुमारी को भी यह विदित होजाता है कि राजकुमार ने जो चित्र खींचा है वह उसी का है । इसके उपरान्त बड़े धूम धाम से विवाह होता है ।

यहाँ पर हमें राजा के विदूषक शेखर का एक जी बहलाने वाला वृत्तान्त मिलता है जो कि इन उत्सवों में खूब मदिरा पीकर कुछ हास्यजनक कार्य्य करता है । वह कहता है कि उसके लिये केवल दो देवता हैं अर्थात् बलदेव जो कि नशा पीने के लिए हिन्दुओं का प्रसिद्ध देवता है और दूसरे काम जो कि प्रेम का हिन्दू देवता है । और यह वीर अपनी प्रियतमा से जो कि एक दासी थी मिलने के लिए जाता है । परन्तु उस मनोहर युवती से मिलने के पलटे वह राजकुमार के एक ब्राह्मण साथी से मिलता है जिसने कि कीड़े मकोड़ों से बचने के लिए अपने सिर पर कपड़ा डाल लिया था और इस प्रकार घूंघट काढ़े हुए स्त्री की नाईं देख पड़ता था । शेखर ने मदान्ध होने के कारण ब्राह्मण को अपनी प्रियतमा जान कर आलिङ्गन किया, जिससे कि ब्राह्मण को बड़ी ही अरुचि थी और उसने मदिरा की दुर्गन्ध से अपना नाक बन्द कर लिया । यह गड़बड़ी उस समय और भी बढ़ गई जब कि उस स्थान पर स्वयं उसकी प्रियतमा उपस्थित हुई । इस अविवेकी

प्रेमी पर दूसरी स्त्री से प्रेम करने का दोष लगाया गया और ब्राह्मण को उपयुक्त कटु वाक्य यथा "भूरा बन्दर" इत्यादि कहा गया, उसका जनेऊ तोड़ डाला गया और वह इस संकट में से निकलने के लिये दासी के चरणों पर गिरने लगा परन्तु अन्त में सब बातें सन्तोषदायक रीति से प्रगट हो गईं।

इसके उपरान्त दुलहा और दुलहिन की नवप्रीति के आमोद प्रमोद वर्णन किए गए हैं। राजा निम्नलिखित शब्दों में चुम्बन की प्रार्थना करता है—

"लहि लहि भानु प्रकाश नित पावन पाटल जोति।
केसर सम निसरत जहाँ दसन सुछबि नित होति॥
जो यहि बिधि शोभा लहत तव मुख कमल समान।
तो मधुकर केहि हेत नहिं करत तहाँ रस पान॥"

[सीताराम]

परन्तु इस समय इस प्रेमी को उसके राज्य के समाचार बाधक होते हैं और उनके कारण उसे अपनी प्रियतमा को छोड़ना पड़ता है।

यहाँ तक यह कथा अन्य हिन्दू नाटकों की कथा के सदृश है परन्तु अन्तिम दोनों अङ्क (पाँचवाँ और छठाँ) मुख्यतः बौद्ध हैं और वे विचित्र रूप में दूसरों के हित के लिये आत्मत्याग के वास्तविक गुणों को दिखलाते हैं।

जीमूतवाहन उत्तरी घाटों में जाता है और वहाँ समुद्र तट पर पक्षियों के राजा गरुड़ के मारे हुए नागों की हड्डियों का टीला देखता है। नाग साँप हैं परन्तु हिन्दू और बौद्ध कवियों की कल्पना में वे मनुष्य की नाईं हैं उनमें अन्तर केवल इतना है कि वे केचुलीवाले होते हैं और उनकी पीठ से फन

निकले रहते हैं। गरुड़ के साथ यह प्रबन्ध हो गया है कि उसके आहार के लिये प्रतिदिन एक नाग आया करेगा और जीमूतवाहन जब एक नाग को अपनी रोती हुई माता से बिदा होते हुए और गरुड़ के भोजन के लिये आने की तय्यारी करते हुए देखता है तो उसके हृदय में बड़ी वेदना होती है। वह निष्ठुर गरुण को नाग के स्थान पर स्वयं अपने को अर्पण करता है और यह पक्षी उसे लेकर उड़ जाता है।

जब वह नाग जीमूतवाहन के घर में जाकर उसके इस प्रकार जाने का समाचार कहता है तो वहां बड़ा शोक और रोना होता है। उसके वृद्ध माता पिता और उसकी नव विवाहिता स्त्री उस स्थान पर दौड़ कर जाती हैं, जहां कि गरुड़ उस समय तक भी राजकुमार का मांस खा रहा है और उसका जीव निकल गया है। सच्चा नाग भी वहां दौड़ कर जाता है और निरपराधी राजकुमार को बचाने के लिये अपने को अर्पण करता है, और इस प्रकार अपने को प्रगट करता है—

"स्वस्ति के लच्छन छाती के ऊपर देह पै केचुल देखत नाहीं।
जानि परैं नहिं तोहिं कहौ द्वय जीभ बिशाल मेरे मुख माहीं।
धूम सों भो विष के अनि जोतिहु धूमलि रंग सदा वहै जाहीं।
दुःसह सोक सो वायु चलै जहँ सों फन तीन न तोहिं लखाहीं॥

[सीताराम]

उस समय गरुड़ को अपनी भूल स्मरण होती है और वह भयभीत हो जाता है।

"अरे इस महात्मा ने इसी नाग के प्रान बचाने के लिये करुणा करके अपना शरीर अर्पण कर दिया। हाय मैंने बड़ा अकाज किया और क्या कहूँ यह तो बोधिसत्व ही मारा गया है"।

[सीताराम]

जीमूतवाहन गरुड़ को अपने पाप के प्रायश्चित छुड़ाने की रीत का उपदेश देता है—

" त्यागहु जीव को मारन आज सों चेतिके पाप किए पछिताए ।
देहु अभै सब जंतुन को अब मित्र बटोरहु पुण्य प्रवाहू " ॥

[सीताराम]

इन उपदेशों के उपरान्त इस वीर राजकुमार का अन्त हो जाता है क्योंकि उसका आधे से अधिक शरीर खाया जा चुका था। उसके माता पिता इस संसार से विदा होने के लिये चिता पर चढ़ने की तय्यारी करते हैं। उसकी विलाप करती हुई युवा विधवा गौरी की आराधना करती है जिसकी आराधना कि उसने विवाह के पहिले की थी।

अतः कथा सुखपूर्वक समाप्त होती है। गौरी राजकुमार को जिला देती है और गरुण हिन्दुओं के देवता इन्द्र से प्रार्थना करके जिन नागों को उसने पहिले मारा था, उन सबों को पुनः जीवित करवाता है। जीवधारियों की हानि मत करो—यही इस बौद्ध नाटक का उपदेश है।

शीलादित्य द्वितीय के उपरान्त सौ वर्ष बीत गए और तब एक सच्चा महान कवि जो कि कालिदास की चोरी करने वाला नहीं था वरन् गुण और यश में उसकी बराबरी का था हुआ। यह भवभूति था जिसे कि श्रीकण्ठ भी कहते हैं। यह जाति का ब्राह्मण था और इसका जन्म विदर्भ अर्थात् बरार में हुआ था परन्तु उसने शीघ्र ही कन्नौज के राजदरबार से अपना सम्बन्ध किया जो कि उस समय भारतवर्ष के विद्या का केन्द्र था। अपनी जंगली जन्मभूमि से इस स्वाभाविक कवि ने प्रकृति की उस स्वाभाविक रौनक को जाना था जो कि उसे संस्कृत के अन्य सब कवियों

से प्रसिद्ध बनाती है। कन्नौज के सभ्य राजदरबार से उसने निस्सन्देह काव्य और नाटक के नियम सीखे जिसने कि उसकी बुद्धि के प्रवाह को प्रवाहित कर दिया परन्तु उसके दिनों का कन्नौज में व्यतीत होना नहीं बदा था। कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन को काश्मीर के प्रबल राजा ललितादित्य ने पराजित किया और उसके साथ यह कवि काश्मीर को गया।

भवभूति के तीन नाटक हम लोगों को प्राप्त हैं। हम मालती माधव से आरम्भ करेंगे जिसमें कि मालती और माधव के प्रेमकी कथा है।

माधव, कवि की जन्मभूमि विदर्भ अथवा बरार के राजमंत्री देवरात का पुत्र है, और वह पद्मावती अर्थात् उज्जैनी में विद्याध्ययन के लिये आया है। जब वह इस नगर की गलियों में घूम रहा था तो यहां के मंत्री की कन्या मालती ने

"अपनी खिड़की से युवा को देखा, मानो कामदेव सा सुन्दर हो और वह स्वयं उसकी यौवनप्राप्त दुलहिन—उसने देखा भी व्यर्थ नहीं—

कामदेव के वार्षिकोत्सव के समय इस देवता के मन्दिर में पूजा के लिये बड़ी भीड़ एकत्रित होती है। मालती भी हाथी पर इस मन्दिर को जाती है और वहां माधव मिलता है। इन दोनों में परस्पर देखा देखी होती है और दोनों प्रेमाशक्त हो जाते हैं।

परन्तु सच्चे प्रेम का पन्थ कभी सीधा नहीं होता और पद्मावती के राजा ने नन्दन नामक अपने एक कृपापात्र से मालती का विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी और मालती

का पिता खुल्लम खुल्ला अस्वीकार करने का साहस नहीं कर सकता था। यह समाचार इस प्रेमासक्त युवती को वज्राघात के सदृश हुआ और एक बौद्धसन्यासिनी कामन्दकी ने दया के साथ ये वाक्य कहे।

"यहां मेरा योगिनपना काम नहीं आ सकता। लड़कियों का बाप जो करे सोई होता है। उसको दैव के सिवाय और कौन रोक सकता है। पुराणों में यह लिखा नहीं है कि विश्वामित्र की बेटी शकुन्तला ने दुष्यन्त को बरा, उर्वशी पुरुरवा के पास रही, वासवदत्ता को उसके बाप ने संजय को देना चाहा था पर उसने उदयन को बर लिया। पर यह कौन करने का काम है"।

[सीताराम]

यह स्पष्ट है कि योगिनी वा कवि ने यहां अपने पूर्वज कालिदास के दो ग्रंथों का उल्लेख किया है और वासवदत्ता की कथा का भी उल्लेख किया है जो कि शीलादित्य द्वितीय की सभा में कथा वा नाटक के लिये इतना प्रसिद्ध विषय था।

परन्तु इस बौद्ध योगिनी ने मालती और माधव की सहायता करने का संकल्प कर लिया था। ये दोनों प्रेमी योगिनी के घर में मिले परन्तु रानी की आज्ञा से मालती वहां से बुला ली गई। माधव निराश होकर अपने मनोरथ में सफल होने के लिये कुछ अद्भुत क्रियाएं करता है, और यहां हमें एक भयानक तांत्रिक पूजा का दृश्य मिलता है। भवभूति की बुद्धि का सब से अधिक परिचय हमें उस समय मिलता है जब कि वह किसी ऐश्वर्य्य वा भय के दृश्य का वर्णन करता है।

एक स्मशान में जहां कि मुर्दे जलाए जाते हैं, भयानक देवी चामुण्डा का मन्दिर है, और उसकी दुष्ट पुजेरी कपाल-

कुण्डला कपाल की माला पहिने पूजा कर रही है। वहां माधव कच्चे मांस का भोग लेकर अपने मनोरथ को सिद्ध करने में भूतों की सहायता के लिये जाता है। वह भूतों और पिशाचों को मांस देते समय कहता है—

"अरे पिशाचों की भीड़ से मसान कैसा भयङ्कर देख पड़ता है।

घोर अँधेरिया मसान में रही चहूं दिसि छाय।
चिता जोति बिच बीच में चमकत है अधिकाय॥
नाचत कूदत फिरत हैं डाइन प्रेत सियार।
टेरत से इक एक को किल किल करत अपार॥

अब इनको पुकारूं—अरे ओ मसान के डाइन पिशाच।

काटो नर के अंग को बिन हथियार लगाय।
महा मांस हम देत हैं लेहु लेहु सब आय॥

(परदे के पीछे हुल्लड़ होता है)

अरे, हमारा पुकारना सुनते ही सारे मसान में गड़ बड़ मच गया। भूत प्रेत बेताल चिल्लाते हुए दौड़ रहे हैं। बड़ा अचरज है।

ज्वाल कढ़ें जब कान कान लौं फारे सोई मुंह बावत हैं।
दांत खुले बरछी की अनी से इते झपटे सब आवत हैं॥
बिज्जु सी मोछैं भवैं दृग केश सबै नभ में चमकावत हैं।
सूखे बड़े तन को उलका मुख ज्योति में नेक दिखावत हैं॥

अचानक माधव को एक दुखिनी युवती का सुरीला और भयानक स्वर सुनाई देता है।

"हाय चाचाजी, तुम जिसे निठुराई से राजा की भेंट किए देते थे अब वह मर रही है"।

इस स्वर से माधव अपरिचित नहीं है वह मन्दिर में घुस जाता है और वहां मालती को बलि की भांति खड़े हुए देखता है जिसको कि चामुण्डा का भयानक पुजेरी

अघोरघण्ट बलि देने के लिये प्रस्तुत है । कुछ तांत्रिक क्रियाओं के लिये कुमारी कन्या का बलि देना आवश्यक था और इस कार्य के लिये पद्मावती नगरी की यह सबसे सुन्दर और सबसे पवित्र कन्या चुरा ली गई थी । मालती को स्वयं अपनी चोरी का पता नहीं था, वह कहती है ।

"मैं कुछ नहीं जानती, मैं कोठे पर सो रही थी, जब जागी तो अपने को यहां देखा" ।

माधव इस दुष्ट पुजेरी को मार कर अपनी प्रियतमा की रक्षा करता है । परन्तु इससे अधिक दुष्टा पुजेरिन कपालकुण्डला इसका बदला लेने का विचार करती है ।

इसके उपरान्त हम बहुत सी छोटी छोटी घटनाओं को छोड़ देते हैं । अन्त में मालती माधव के साथ भागती है । राजा इन अपराधियों को पकड़ने के लिये सिपाहियों को भेजता है, परन्तु माधव उन्हें मार भगाता है और राजा उसकी वीरता के लिये उसे उदार हृदय से क्षमा कर देता है ।

यहां पर यह नाटक राजा की आज्ञा से इन दोनों प्रेमियों का विवाह होने पर सुख से समाप्त हो जाता परन्तु भवभूति प्रकृति और मनुष्य के भावों का उत्तेजित वर्णन करने के लिये इस कथा को बढ़ाता है । उसकी घटनाएं और उसकी उलझन व्यर्थ बढ़ाई गई हैं, परन्तु इसका वर्णन अद्वितीय है । मालती को एक बार पुनः दुष्ट पुजेरिन कपालकुण्डला चुरा लेजाती है, और माधव उसकी खोज में विन्ध्य पर्वत पर जाता है, सौदामिनी जो कि पहिले एक बौद्ध पुजेरिन थी परन्तु जिसने अब योगाभ्यास से दैविक शक्तियों को प्राप्त कर लिया है, माधव की

सहायता करने का संकल्प करती है, और उसके मुख से हमें उस स्थान का बड़ा अद्भुत वर्णन मिलता है।

"अरे मेरे उतरते ही पहाड़ नगर गांव नदी मानो किसी ने आंखों में डाल दिया। वाह, वाह—

एक ओर पारानदी बहै सुनिर्मल नीर।
एक ओर है सिन्धु सरि डोलत परम गंभीर॥
इन महँ पद्मावती लखै मानहुं धरे अकास।
मन्दिर फाटक अट्ट सब उलटे लखिय प्रकाश॥
ललित लहर की माल सहित लवना यह सोहै।
पावस ऋतु महँ नगर लोग कर सोइ मन मोहै॥
जासु तीर बनखण्ड घास मोटी उपजावैं।
लखि सन भागि न जाय जहां चरि चरि सुख पावैं॥

"अरे यह सिन्धु का झरना है जो रसातल तक फोड़े डालता है—

ऊँचे गिरि सन गिरि सरि नीरा।
गाजत मेघ समान गँभीरा॥
गुंजत शल कुञ्ज चहुं ओरा।
ज्यों गनेस चिघरन कर शोरा॥

देखो पहाड़ के तट पर चन्दन केसर और अश्वकर्ण का कैसा घना बन है। बेल पकने से कैसी सुगन्धि आ रही है। इनको देखने से दक्खिन के पहाड़ों की सुध होती है, जिनके चारों ओर जामुन के घने बनों के अंधेरे में खोहों और घाटियों के बीच गोदावरी गरजती हुई चलती है।"

[सीताराम।]

अन्त में सौदामिनी अपने मंत्र बल से मालती को छुड़ाती है और उसका विवाह सुखपूर्वक माधव के साथ होता है।

भवभूति के अन्य दोनों नाटक रामायण से लिए गए हैं। उनमें से महावीरचरित्र में राम की बाल्यावस्था से लेकर

लंका विजय करने और सीता के सहित अपनी जन्मभूमि को लौटने तक की कथा का वर्णन है। यह नाटक निस्सन्देह भवभूति के अन्य नाटकों से घटता है परन्तु फिर भी उसमें बड़े ओजस्विता के वाक्य हैं। जहां पर प्राचीन राजा (जनक जो कि उपनिषदों का प्रगट करने वाला और क्षत्रियों को विद्या में ब्राह्मणों के बराबर कहने वाला था) जमदग्नि के पुत्र परशुराम की धमकी से क्रोधित हुआ है, अच्छी कविता देखने में आती है। यह राजा क्रोध से कहता है—

"जन्मो भृगुमुनि वंस को यही तपसी मुनि ज्ञानी।
सही बेर लो रिपुहि की हम अति अनुचित बानी॥
तृन समान हम सबन गनि करत जात अपमान।
उठै धनुष यहि दुष्ट पर अब उपाय नहिं आन॥"

[सीताराम।]

उस कवि की जन्मभूमि में गोदावरी के उद्गम का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

"देखो यह प्रश्रवण नाम पहाड़ जन स्थान के बीच में है जिसका नीला रंग बार बार पानी के बरसने से मैला सा हो गया है और जिसकी कन्दरा घने पेड़ों के अच्छे वनों के किनारे गोदावरी के हलोरों से गूंज रही है।"

दूसरा नाटक उत्तर रामचरित्र है जिसमें कि इसके उपरान्त की रामायण की कथा सीता के बनवास और राम का अपने पुत्र लव और कुश से मिलाप होने तक का वर्णन है। वर्णन और ओजस्विता में यह नाटक मालती माधव के बराबर है और कोमलता तथा करुणा के लिये यह संस्कृत साहित्य के किसी ग्रन्थ की बराबरी कर सकता है।

इसकी कथा रामायण की ही कथा है और इस कारण उसे विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह नाटक राम और सीता की बात चीत से आरम्भ होता है जो कि लङ्का से लौट कर आए हैं और अयोध्या के सिंहासन पर बैठे हुए हैं। दूसरे दृश्य में लक्ष्मण उन्हें राम के पूर्व चरित्र के चित्र दिखलाते हैं और कोमल सीता अपनी पूर्व आपत्ति के चित्रों को बिना दुःख के नहीं देख सकती। कवि निस्सन्देह अपनी प्रिय गोदावरी के लिये भी एक वाक्य लिख देता है।

"जिस के खोहों के चारों ओर घने पेड़ों में अँधेरे वन में बहने से कैसा शोर होता है।"

और रामने वहां जो सुख के दिन व्यतीत किए थे उनका स्मरण हृदय वेधक वाक्यों में दिलाता है।

"स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा ।
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥
किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्ति योगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिल परिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥"

तब दुर्बल सीता जो कि उस समय गर्भवती थी विश्राम की इच्छा करती है और राम स्नेह के साथ उससे कहते हैं।

"आविवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे ननु यौवने पुनः ।
स्वापहेतुरनुपाशितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते ॥

सीता—अस्ति एतत् आर्यपुत्र अस्ति एतत् ।   [स्वपिति]

रामः—कथं प्रियवचना वक्षसि सुप्तैव ।

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं कंठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिक रसः
किमस्या न प्रेयो यदि पुनरसह्यो न विरहः ॥

इस अन्तिम वाक्य को कवि ने चतुराई के साथ रख दिया है क्योंकि राम से सीता का फिर वियोग होने ही वाला है। सीता को नींद में छोड़ने के उपरान्त ही राम बड़े दुःख के साथ यह सुनता है कि रावण के यहां जाने के उपरान्त उसके उसे पुनः अंगीकार करने से उसकी प्रजा को बड़ा असंतोष है। प्रजा का असन्तोष सहने में असमर्थ होने के कारण वह उनकी इच्छा को स्वीकार करता है और बिचारी सीता को निकाल देता है।

इसके उपरान्त फिर १२ वर्ष व्यतीत होगए। सीता ने बनवास के उपरान्त ही जिन दोनों पुत्रों को उत्पन्न किया था वे अब बलिष्ठ बालक होगए हैं और बाल्मीकि की शिक्षा में शस्त्र और विद्या में निपुण होगए हैं। सीता के दिन बन में बड़ी उदासी से व्यतीत होते हैं।

"परिपाण्डुदुर्व्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकवरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्त्तिरिव वा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥"

यह निश्चित होता है कि सीता को दैविक शक्तियों के द्वारा अदृश्य बना कर रामसे भेंट करानी चाहिए और कवि यह भेंट अपनी गोदावरी के तट पर कराता है। वहां राम सीता की सखी वासन्ती के साथ घूमते हैं और सीता और तमसा भी राम को अदृश्य होकर वहां जाती हैं। वहां का प्रत्येक दृश्य राम को उन दिनों का स्मरण दिलाता है जब कि वह सीता के सहित यहां रहे थे और उनका हृदय

दुःख से भर जाता है। और वासन्ती कटु तथा नम्र संकेत से राम को सीता पर अन्याय करने का स्मरण दिलाने में नहीं चूकती। भवभूति राम पर प्रजा की सम्मति के अधीन होने के लिये अपनी निर्दोष, असहाय और प्रिय पत्नी को बनवास देकर उस पर अकथनीय अन्याय करने के लिये कुपित हुए बिना नहीं रह सकता। और यद्यपि इस कवि के हिन्दू हृदय में राम का सत्कार है तथापि हमारे पाठक देख सकते हैं कि इसने राम की अद्वितीय दुर्बलता और अपराध के विषय में अपने मन में बात प्रगट करने का निश्चय कर लिया है।

"एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्त्ति कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते।
अत्र स्थिता तृणमदाद् बहुशो यदेभ्यः सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यतेस्म॥

राम—इदं तावदशक्यमेव द्रष्टुम्।

बिचारी सीता जो कि उस समय उपस्थित थी और यद्यपि राम के लिये अदृश्य थी परन्तु वह इसे सहन नहीं कर सकती और कहती है।

"सखि वासन्ति किं त्वम् असि एवं वादिनी प्रियार्हः खलु सर्वस्य आर्यपुत्रः विशेषतः मम प्रियसख्याः।"

परन्तु वासन्ती निष्ठुर है और राम से कहे जाती है।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण॥

राम व्यर्थ प्रजा की सम्मति पर टाल कर निर्दोषी बनते हैं। वासन्ती, बन में सीता की क्या दशा हुई होगी इस विषय में भयानक अनुमान करती है, राम करुणा से रोने

लगते हैं। सीता अपने पति का दुःख अब नहीं देख सकती और वह तमसा से कहती है कि "देखो वे प्रमुक्तकंठ रो रहे हैं" परन्तु तमसा उत्तर देती है।

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥

यहां पर हमें ऐसा ज्ञात पड़ता है कि हम शेक्सपियर के मेकबेथ का अनुवाद पढ़ रहे हैं।

"Give sorrow words; the grief that does not speak
whispers the o'erfraught heart and makes it break."

और फिर भी विदर्भ का यह कवि शेक्सपियर से ८०० वर्ष पहिले हुआ है।

राम को इतनी बातें कही जाती हैं कि वे अन्त में मूर्छित हो जाते हैं। सीता जो कि स्वयं अदृश्य थी उस का सिर छूती है और इस प्रिय स्पर्श से राम यह कहते हुए उठ बैठते हैं

"सखि वासन्ति दिष्ट्या वर्द्धसे।"

और कहते हैं कि उन्हें सीता का स्पर्श ज्ञात पड़ा

"सखि कुतः प्रलापाः
गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधर-
श्चिरं स्वेच्छास्पर्शैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः ॥"

परन्तु सीता अब जाती है। उसे और तमसा को अब अवश्य जाना चाहिए परन्तु वह सहज में यहां से नहीं हट सकती।

"भगवति प्रसीद आगताहम् अपि तावत् दुर्लभं जनं प्रक्षे।"
और जाने के पहिले व्यग्र होकर कहती है।

"नमः नमः अपूर्वपुण्यजनितदर्शनेभ्यः आर्यपुत्रचरणकमलेभ्यः ।"

हा विचारी, निकाली हुई, दुखी सीता अपने प्रिय पति के चरण को नमस्कार करती है, उस पति को जिसने कि उसे अकेले निःसहाय गर्भ के अन्तिम दिनों में बिना विचारे दुर्बलता और निष्ठुरता से बन में निकाल दिया था। स्त्री के आत्मत्याग की सीमा इससे अधिक नहीं हो सकती, चिरस्थायी प्रेम का इससे बढ़ कर वर्णन कभी नहीं किया गया है। मनुष्य की कल्पना सुशील सदा प्रेम करने वाली और सब क्षमा करने वाली सीता से बढ़कर उत्तम, पवित्र और देव तुल्य चित्र नहीं खींच सकी है।

दूसरे स्थान पर कवि ने एक बार फिर राम के इस दुर्बल आचरण पर अपना पश्चात्ताप प्रगट किया है। प्राचीन राजा जनक जो कि अपने अधिकार और अपने पवित्र जीवन तथा वैदिक ज्ञान के लिये समान रीति से पूज्य थे अपनी कन्या के दुःख सुन कर बड़े क्रोधित होते हैं। जब वे राम के आचरण पर ध्यान देते हैं तो उनकी वृद्ध नसों का रुधिर गर्म हो जाता है और वे क्रोध में कहते हैं।

"अहो दुर्मर्ष्यता पौराणाम् । अहो रामस्य राज्ञः क्षिप्रकारिता ।
इत्यद्वैशसघोरवज्रपतनं शश्वन्ममोत्पश्यतः ।
क्रोधस्य ज्वलितुं धगित्यवसरश्चापेनशापेन वा ॥

राम के अश्वमेध की कथा प्रसिद्ध है। घोड़ा छोड़ा जाता है और राम के पुत्र उसे रख लेते हैं और इस प्रकार अनजाने राम की सेना के साथ वैर करते हैं। लव और चन्द्रकेतु के मिलने का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। ये दोनों वीर युवा हैं जिनमें कि युद्ध का उत्साह भरा है परन्तु वे एक दूसरे के साथ वीरोचित सुशीलता और

सम्मान दिखलाते हैं । चन्द्रकेतु अपने रथ से उतरता है । यह क्यों ?

"अतस्तावदयं वीरपुरुषः पूजितो भवति अपि खलु आर्य क्षात्रधर्म्मश्चानुगृहीतो भवति । न रथिनः पादचारमारोधयन्ति इति शास्त्रविदः परिभाषन्ते ।"

और यह युरप में वीरता की उन्नति होने के कई शताब्दी पहिले लिखा गया था ।

वाल्मीकि आनन्द सहित मिलाप करवा देते हैं जिससे कि यह नाटक समाप्त होता है परन्तु यह कवि राम पर दूसरी चुटकी लिए बिना अपनी लेखनी नहीं रख सकता । राम के सम्मुख एक नाटक होता है और इस नाटक का विषय राम को अपने पत्नी के त्याग करने का है । नाटक में सीता त्याग किए जाने के समय सहायता के लिये पुकारती है और आपत्ति और दुःख में अपने को गंगा में गिरादेती है राम इसे नहीं सह सकते और यह कहते हुए उठते हैं ।

"हा देवि हा देवि । लक्ष्मण अपेक्षस्व ।"

उनके भाई लक्ष्मण उन्हें स्मरण दिलाते हैं ।

"आर्य्य नाटकमिदम् ।"

यहाँ पर पाठकों को हैमलेट नाटकान्तर्गत नाटक का स्मरण आवेगा जो कि हैमलेट के चाचा का दोष निश्चित करने के लिये रचा गया था । यह नाटक सुख से समाप्त होता है । राम सीता को अपने पुत्र लव और कुश के सहित ग्रहण करते हैं और अयोध्या के लोग पश्चात्ताप के साथ सीता के चरणों पर गिरते हैं ।

जब हम कालिदास और भवभूति का उल्लेख कर चुके तो संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम सब नाटकों का वर्णन हो गया ।

उस समय में जिसे कि हम संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम काल कह सकते हैं सैकड़ों नाटक बनाए और खेले गए होंगे परन्तु उनमें से केवल उत्तम ग्रन्थ बचे रहते हैं बाकी लुप्त हो जाते हैं। चिकनी चुपड़ी नकल वा निर्जीव ग्रन्थ समय का झोंका नहीं सह सकते। शेक्सपियर के कुछ प्रधान ग्रन्थ उस समय भी पढ़े जाँयगे जब कि शेक्सपियर की भाषा बोल चाल की भाषा न रह जायगी परन्तु एलिज़बथ के १२०० वर्ष के उपरान्त पील, ग्रीन, मारलो और बेन जान्सन का कदाचित् किसी को नाम भी स्मरण न रहेगा।

जो हिन्दू नाटक अब वर्तमान हैं वा जिनका नाटक लिखने वालों ने उल्लेख किया है उनकी कुल संख्या प्रोफेसर विल्सन ने ६० से अधिक नहीं गिनी है। परन्तु इनमें से बहुतेरे बहुत इधर के समय के हैं और उनमें बहुत ही थोड़े ऐसे हैं जो कि कुछ उपयोगी वा प्रसिद्ध हों। ऊपर कहे हुए नाटकों के सिवाय आजकल जो नाटक साधारणतः प्रसिद्ध अथवा पढ़े जाते हैं वे ये हैं अर्थात् मृच्छकटि, मुद्राराक्षस और वेणि-संहार। उनके विषय में एकाध दो वाक्य लिखना बहुत होगा।

मृच्छकटि राजा सूद्रक का बनाया हुआ कहा जाता है और उसके बनने का समय विदित नहीं है। परन्तु भीतरी प्रमाणों से यह विदित होता है कि यह उस उज्वल साहित्य-काल का बना हुआ है जो कि छठीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। उसकी लिखावट में इस काल के अन्य नाटकों से बहुत भेद नहीं है और उन्हीं की भाँति उसके दृश्य का स्थान भी उज्जयिनी है। उसमें पौराणिक त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव माने गए हैं (छठाँ अङ्क), बौद्ध लोग घृणा के पात्र

हो गए थे परन्तु उन्हें दुःख देना अभी आरम्भ नहीं हुआ था (७ वाँ अङ्क) और न्याय के लिये मनुस्मृति प्रमाण मानी गई है (९ वाँ अङ्क)। शेष बातों के लिये मृच्छकटि में राजाओं और रानियों का वर्णन नहीं वरन् सामान्य अवस्था के पुरुष और स्त्रियों का वर्णन है। उससे हमें प्राचीन समय के नगर-वासियों का जीवन तथा न्याय और राज्यप्रबन्ध, जुवा खेलने तथा अन्य पापों का वर्णन मिलता है और यह सब उनकी चाल व्यवहार का साधारण तथा यथार्थ चित्र है। जब हम इस काल की सभ्यता और चाल व्यवहार का वर्णन करेंगे तो हमें इस नाटक का बहुधा उल्लेख करना पड़ेगा।

मुद्राराक्षस नाटक इससे नवीन ग्रन्थ है और उसका ग्रन्थकार विशाषदत्त है। इस नाटक के अन्तिम वाक्यों से विदित होता है कि जब यह ग्रन्थ बनाया गया था उस समय भारतवर्ष मुसल्मानों के हाथ में जा चुका था। उसकी मुख्य मनोरञ्जक बात यह है कि वह ईसा के लगभग ३२० वर्ष पहिले चन्द्रगुप्त को मगध का राज्य दिलाने में चाणक्य की सहायता करने का उल्लेख करता है। इसमें युक्तिवान बदला लेने वाले अत्याचारी और निष्ठुर चाणक्य तथा उदार, सरल स्वभाव, भलेमानस और सच्चे राक्षस के चरित्रों का बड़ी उत्तम रीति से भेद दिखलाया है।

वेणी संहार नाटक भट्टनारायण का बनाया हुआ कहा जाता है और लोग ऐसा कहते हैं कि यह उनमें से एक ब्राह्मण था जो कि आदिशुर के निमन्त्रण पर कन्नौज से बंगाल को आए थे। बंगाल में अब तक भी बहुत से ब्राह्मण अपने को इस ग्रन्थकार का वंशज मानते हैं। इस नाटक का विषय महाभारत से लिया गया है। द्रौपदी को

जब युधिष्ठिर जूए में हार जाते हैं तो दुःशासन उसकी वेणी अर्थात् चोटी पकड़ कर सभा में घसीट ले जाता है और वह यह पण करती है कि जब तक इसका पलटा नहीं लिया जायगा तब तक वह अपने बाल खुले रक्खेगी। इसका पलटा भीम ने दुर्योधन को मार कर लिया और तब द्रौपदी के केश पुनः बांधे गए। इसमें प्रभावशाली वाक्य भी हैं परन्तु सब बातों पर ध्यान देने से इस नाटक की लिखावट कटु और अनगढ़ है और यह स्पष्ट है कि वह मुसल्मानों के भारत विजय के बहुत पहिले का नहीं बना है।

—:*:—

अध्याय १३

काव्य ।

नाटक को नाईं काव्य में भी कालिदास का नाम ही सब से प्रथम है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उसमें संस्कृत के बहुत से महाकाव्य हैं जिनमें से दो सबसे उत्तम महाकाव्य कालिदास के हैं। इनमें से एक तो रघुवंश है जिसमें रघु के वंश का वर्णन है और दूसरा कुमारसम्भव है जिसमें युद्ध के देवता कुमार के जन्म की कथा है।

पहिले महाकाव्य में अयोध्या के राज्यवंश का वर्णन है जो कि इस वंश के संस्थापक से लेकर राम के वंश के अन्तिम राजाओं तक है। यह विषय काव्य के लिये उतना उपयुक्त नहीं है जितना कि इतिहास के लिये परन्तु कवि की बुद्धि ने सारी कथा को सजीव कर दिया है। राजाओं

के जीवन चरित्रों के दृश्य का वर्णन महाकवि की पूरी शक्ति के साथ वर्णन किया गया है, वर्णन सदा उत्तम और प्रभावशाली है बहुधा उसमें सच्ची कविता पाई जाती है और आदि से लेकर अन्त तक कालिदास की उत्तम और बड़ी कल्पना और उसकी कविता की अद्वितीय कोमलता का प्रभाव पाठकों के ऊपर रहता है ।

इस समस्त ग्रन्थ में सबसे आनन्दमय और अद्भुत कविता वहां है जहां कि राम लङ्का से सीता को जीतकर विमान पर चढ़ कर आकाश मार्ग से अयोध्या को लौटे जा रहे हैं । सारा भारतवर्ष, नदी, वन, पर्वत, और समुद्र इनके नीचे है और राम अपनी कोमल और प्रिय पत्नी को भिन्न भिन्न स्थानों को दिखलाते हैं । इस वर्णन की सुन्दरता के सिवाय हमें यह अंश इसलिये मनोरञ्जक है कि छठीं शताब्दी में उज्जयिनी के विद्वानों को भारतवर्ष का भूगोल विदित था इसका हमें भी कुछ ज्ञान प्राप्त होता है ।

हमारी सम्मति में कुमारसम्भव में कालिदास की कल्पना अधिक बढ़गई है । इस ग्रन्थ में वह किसी राज्यवंश का इतिहास नहीं लिखता है वरन अपनी कल्पना शक्ति के पूर्ण भण्डार से शिव के लिये उमा की प्रीति और उनके आनन्दमय विवाह का वर्णन करता है ।

उमा ने हिमालय पर्वत की कन्या की भांति जन्म लिया था और उससे अधिक कोमल सन्तान इस संसार में कभी नहीं हुई ।

"स्थावर जंगम सबको, उसके होने से सुख हुआ अनन्त ।
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर सारा वसुधान्त ॥

चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान ।
बढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चांदनी समान ॥
(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

इस कन्या की बाल्यावस्था का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता और मधुरता के साथ किया गया है इस कन्या के लिये एक बड़ा भविष्य उपस्थित है। देवता लोग प्रतापी शिव के साथ उसका विवाह कराना चाहते हैं क्योंकि इस विवाह से जो बालक उत्पन्न होगा वह देवताओं के लिये असुरों को जीतेगा। इस समय शिव हिमालय पर्वत पर समाधि में मग्न हैं और यह निश्चय किया जाता है कि उमा इस महान देवता की दासी की नाईं सेवा करे और उसकी सब आवश्यकताओं का प्रबन्ध करे। पवित्र वस्त्र धारण किए हुए तथा फूलों से सुशोभित उमा की मूर्ति का ध्यानावस्थित शिव की सेवा करने के लिये पुष्प एकत्रित करने और उसको यथोचित दण्डवत करने का जो वर्णन है उस से अधिक मनोहर और प्रबल कल्पना का स्मरण हम लोगों को नहीं हो सकता। दण्डवत करने में वह इतनी झुकी कि उसके बालों से वह सुन्दर फूल गिर पड़ा जो उस रात्रि को प्रदीप्त कर रहा था।

शिवने पूजा से प्रसन्न होकर वरदान दिया ।

"पावे तू ऐसा पति जिसने देखी नहीं अन्य नारी ।"

सब बातें अभीष्ट मनोरथ को सफल करने के लिये ठीक हुई होतीं यदि प्रेमके दुष्ट देवता कामदेव ने हस्तक्षेप न किया होता। वह शिव की दुर्बलता के समय की प्रतीक्षा करता है और उस समय अपना कभी न चूकने वाला बाण छोड़ता है। अब कवि योगिराज शिव पर इस बाण के प्रभाव का वर्णन करता है।

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश समान,
कुछ कुछ धैर्यहीन होकर के, संयम शील शम्भु भगवान ।
लगे देखने निज नयनों से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरजा का बिम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह ॥
खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गों द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा ।
लज्जित नयनों से अमिष्ट सी वहीं देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खड़ी रही ॥
महा जितेन्द्रिय थे; इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रियक्षोभ का बलपूर्वक विनिवारण कर ।
मनोविकार हुआ क्यों ? इसका हेतु जानने को सत्वर,
चारों ओर सघन कानन में प्रेरित किए विलोचन वर ॥
नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाए हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर ।
धनुष बनाए हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल ॥
जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभंग होजाने से,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से ।
उन हर के, तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात अग्निस्फलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला ॥
"हा हा ! प्रभो ! क्रोध यह अपना करिए करिए करिए शान्त,"
इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करें नितान्त ।
तब तक हर के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष ॥

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

कामदेव की स्त्री अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती है और उमा शोक और दुःख के साथ वन में जाकर तपस्या

आरम्भ करती है। कवि यहां पर इस सुकुमार और कोमल कन्या की कठोर और असह्य तपस्या का पुनः प्रभावशाली वर्णन करता है। ग्रीष्म ऋतु प्रबल आंच के बीच व्यतीत होती है। शरद् ऋतु में वह वृष्टि में पड़ी रहती है और शीत ऋतु की वायु भी उसे अपने व्रत से विचलित नहीं कर सकती।

एक युवा योगी इस कोमल युवती की कठोर तपस्याओं का कारण पूछने के लिये आता है। उमा की सखियां उसे उसका कारण बतलाती हैं परन्तु योगी उसे विश्वास नहीं कर सकता कि ऐसी सुकुमार कन्या शिव जैसे प्रेमशून्य देवता से प्रेम करे जो कि देह में भस्म लगाए रहते हैं और स्मशानों में घूमते हैं।

"उस द्विज ने इस भांति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा।
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा।"
(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

वह इस असभ्य योगी को उत्तेजित उत्तमता के साथ इस महान देवता के प्रताप का वर्णन करती है जिसे कि कोई नहीं जानता और कोई समझ नहीं सकता और वह क्रोध और घृणा के साथ उस स्थान से चली जाती है।

यह कह कर कि यहां से मैं ही उठ जाऊंगी, वह बाला,
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रगट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड़ लिया कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर॥
उनको देख, कम्पयुत धारण किए स्वेद के बूंद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिए हुए अपना पद एक।

शैल मार्ग में आजाने से आकुल सरिता तुल्य नितान्त ।
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी; हुई चित्र खींची सी भ्रान्त ॥
(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

हां, यह स्वयं शिव ही थे जिन्होंने कि प्रीति करना अस्वीकार किया था परन्तु अब उमा की तपस्याओं से संतुष्ट और प्रसन्न होकर इस पर्वत की कन्या उमा के स्नेह को नम्रता के साथ प्रार्थना की ।

कालिदास के छोटे काव्यों में सब से उत्तम और मृदु मेघदूत है। इसकी कथा सरल है। एक यक्ष अपनी स्त्री

"ठैर के नैक तहां चलियो बरसावन नीर नई बुंदियान तें ।
सींचत नाग नदी तट बागन छाइ चमेली रही कलियानतें ॥
दै छिन छांह को दान सखा करियो पहिचान तू मालिनयान तें ।
कान के फूल गए जिनके कुम्हलाइ से पोंछत स्वेद मुखान तें ॥
तो दिश उत्तर चालनहार के मारग के तोहूं फेर परे किन ।
वा उजयनि के आछे अटा पर से बिन तू चलियो कितहूं जिन ।
चंचल नैन वहां अबलान के बिज्जु छटा चकचौंधे करें छिन ॥
जो न लख्यो उन नैनन तू इकनाहक देह धरे ही फिरे किन ॥
...　....　...　...　....　....

ख्यात है अवन्ती जहां केतेक निवास करें ।
पण्डित जनैया उदयन की कथान के ।
जाइ के तहां प्रवेश कीनो वा विशाला बीच
देख लीजो शोभा साज सकल जहान के ॥
भूमि ते गए जो नर देव लोक भोगिवे कों
करि करि काज बड़े धर्म औ प्रमान के ।
तेई फेर आए सँग सारभाग स्वर्ग लाए
प्रबल प्रताप मनो सब पुन्न दान के ॥

प्रात काल फूले नित कंजन ते भेटि भेटि
रंजन हिये कौ होत गन्ध सरसानो है।
दीरघ करत मद माते बोल सारस के
सुरन रसीले करत गान सुख मानो है।
एते गुन साथ तात सिफरा नदी कौ बात
पीतम समान बीनती में अति सयानो है।
सुरत ग्लानि हरत सोई तहाँ नारिन की
गात हितकारी जान याही ते बखानो है॥'

[लछमणसिंह]

भारवि जो कि कालिदास का समकालीन और उत्तराधिकारी था वह महान् और सच्चे कवि के सब गुणों में कालिदास से कहीं घटकर है। कल्पनाशक्ति में सच्ची कोमलता और मनोहरता में और मधुरता तथा पद्य के सुस्वर में भी कालिदास उससे कहीं बढ़कर है, परन्तु फिर भी भारवि में विचार और भाषा की वह प्रबलता तथा उसकी लेखनी में वह उत्तेजक और उच्च भाषा पाई जाती है, जिसकी कि समानता कालिदास में विरले ही कहीं है। भारवि का केवल एकही महाकाव्य अर्थात् किरातार्जुनीय ही हम लोगों को अब प्राप्त है और वह संस्कृत भाषा का एक सबसे प्रबल और उत्तेजक काव्य है।

इसकी कथा महाभारत से ली गई है। युधिष्ठिर बनवास में हैं, और उनकी पत्नी द्रौपदी उन्हें अपने चचेरे भाइयों के साथ प्रतिज्ञा भङ्ग करके अपने राज्य को पुनः जीत लेने के लिये उत्तेजित करती है, अभिमानी और दुःख प्राप्त स्त्री के उत्तेजित वाक्यों में वह दिखलाती है कि शान्ति और अधीनता स्वीकार करना क्षत्रियों के योग्य नहीं है, अधर्म्मियों के साथ धर्म्म को

व्यवहार नहीं करना चाहिए, दुर्बलता और पदत्याग से राज्य और यश की प्राप्ति नहीं होती।

"तुम सरीख कहँ नाथ सुजाना ।
होत ताहि सिख गारि समाना ॥
पै यहि छन मर्जाद नसावत ।
चित्त दुःख करि ढीठ बुलावत ॥
... ...
अब यह ढील तजहु नर नाहू ।
करहु बेगि रिपु बधन उपाऊ ॥
शमसन रिपु मारत मुनि लोगा ।
शम नहिं कबहुँ नृपन के योगा ॥
....
विक्रम तजि तुम्हार जो टेका ।
क्षमा करब सुख साधन एका ॥
नृप लक्षण तो धनु सर त्यागी ।
जटा बाँधि सेइय मख आगी ॥

(सीताराम)

युधिष्ठिर का जोशीला भाई भीम द्रौपदी का समर्थन करता है, परन्तु युधिष्ठिर उनके कहने से विचलित नहीं होते। इसी बीच में व्यासजी जो कि वेदों के बनाने वाले समझे जाते हैं, राजा को बनवास में देखने आते हैं और वे अर्जुन को तपस्या के द्वारा उन स्वर्गीय शस्त्रों के प्राप्त करने की सम्मति देते हैं जिनसे कि युद्ध के समय में वह अपने शत्रुओं को जीत लेगा। इस उपदेश के अनुसार अर्जुन अपने भाइयों से जुदा होता है और द्रौपदी उसे इस कार्य्य को करने के लिये उत्तेजित वाक्यों में जोर देती है। अर्जुन हिमालय पर्वत के एकान्त स्थान में जाकर अपनी तपस्या आरम्भ करता है।

इस काव्य के किसी अंश से भारवि की कविता शक्ति ऐसी अधिक प्रगट नहीं होती जितनी कि अर्जुन की तपस्या के वर्णन में। उसके स्वाभाविक अभिमान और बल का मिलान उसके इस शान्त कार्य्य से अद्भुत रीति के साथ की गई है, और उसकी उपस्थिति का प्रभाव उसकी शान्त कुटी के जीवधारी और निर्जीव वस्तुओं पर भी होता है। इन्द्र का दूत इस अद्भुत योगी को देखता है और इसकी सूचना इन्द्र को देता है।

"वलकल बसन लसत निज अंगा।
तेज पुञ्ज सोइ बनहुँ पतंगा॥
करत घोर तप शैल तुम्हारे।
जग जीतन लालस जनु धारे॥
यदपि भुजंग सरिस भुज दंडा।
गहे शत्रु त्रासन को दंडा॥
शुद्ध चरित मुनि सम अधिकाई।
तिन निज चरितावली जनाई॥
नव तृनयुत महि सुखद समीरा।
धूर दवन हित बरसत नीरा॥
नभ रह विमल तासु गुन देखी।
करत प्रकृति जनु भक्ति विशेखी॥
छाँडि बैर मृग बने सनेही।
गुरुहि शिष्य सम सेवत तेही॥
फूल काज जब हाथ उठावत।
रूख आप निज डार झुकावत॥
नग पर भयो तासु अधिकारा।
यदपि कहावत नाथ तुम्हारा॥

शम सम थकै तासु नहि देहा ।
जय समर्थ सोई बिन देहा ॥
सो मुनि भेष जात पुनि पासा ।
लखि प्रभाव उपजे मन त्रासा ॥
है ऋषि सुत कै राजकुमारा ।
कै कोउ दैत्य लीन्ह अवतारा ॥
करत यदपि तप तव मन माहीं ।
तासु रूप जान्यो हम नाहीं ॥"

(सीताराम)

इन्द्र इस समाचार से बड़ा प्रसन्न होता है क्योंकि अर्जुन उसका पुत्र है और इन्द्र उसकी सफलता चाहता है। परन्तु फिर भी वह अन्य योगियों की भाँति अर्जुन की भी परीक्षा करना चाहता है, और हमारे वीर को अपनी कठोर तपस्या से ललचाने के लिये अप्सराओं को भेजता है। हमारे ग्रन्थकार ने इन सुन्दर अप्सराओं का वर्णन ४ अध्यायों में दिया है, जिनमें उसने दिखलाया है कि ये अप्सराएँ किस भाँति फूल बटोरती थीं, जल विहार करती थीं और नवीन सुन्दरता के साथ इस एकान्तवासी योगी के सम्मुख उपस्थित होती थीं।

यद्य तप सों परो पियरो शस्त्र-सज्जित धीर ।
मेरु सम गंभीर तहँ उन लख्यो अर्जुन बीर ॥
खड़ो इकलो शिखर पर द्युति आवरण तन सेव ।
यामिनी पति सरिस सुन्दर मनहुँ कोउ बनदेव ॥
यदपि तप सों सूखि कै सब अंग हैं पियरान ।
तदपि शान्त कुटीर में वह अगम और महान ॥
यदपि इकलो खड़ो सो हू अमित कटक समान ।
यदपि तपसी तदपि है वह इन्द्र सम बलवान ॥

यह ऐसा वीर था जिसके सम्मुख ये अप्सराएँ हुईं, और यह ऐसा योगी था जिसे कि उन्होंने व्यर्थ ललचाने का यत्न किया। इन अप्सराओं को कुछ लज्जित होकर लौट जाना पड़ा और तब स्वयं इन्द्र एक वृद्ध योगी के वेष में अर्जुन को अपनी तपस्याओं से विचलित करने को आया जिस भांति कि कालिदास के शिव उमा को अपनी पतस्या से विचलित करने के लिये आए थे। यह वेषधारी देवता अर्जुन को संसारी महत्व की अनस्थिरता, अधिकार और यश की अभिलाषा करने की मूर्खता और वास्तविक पुण्य और मुक्ति की अभिलाषा की बुद्धि का उपदेश देता है परन्तु इन सब उपदेशों से अर्जुन अपने संकल्प से विचलित नहीं होता।

अति पुनीत पिता तव सीख है। पर नहीं मम जोग सु दीख है॥
नखत मण्डित ज्यों नभ रैन को। दिवस की द्युति में नहिं सोहतो॥

चाहत धोवन आज आपनो वह कलंक हम।
रहत दिवस निसि सदा हृदय को जो छेदत मम॥
उन अंसुवन सों जाहि शत्रु की विधवा नारी।
कलपि निहत पति हेतु गिरहहैं अवनि मझारी॥
यदि यह आशा वृथा मोरि सब तुम्हैं लखाई।
तऊ व्यर्थ अनुरोध सकल तव-छमौ ढिठाई॥
जौ लौं शत्रुहिं जीति दलित करिहों मैं नाहीं।
नसी कीर्त्ति निज बहुरि थापिहौं नहिं जग माहीं॥
मुक्ति लोभ सु सकल नाहिं बाधा कछु कारी।
यहि ऊँचे संकल्प माहिं मम लेहु विचारी॥

इन्द्र इस दृढ़ संकल्प से जो कि न तो ललचाने से और न ज्ञान से विचलित हो सकता है अप्रसन्न नहीं होता। और वह अपने को प्रगट करता है और इस वीर को स्वर्गीय

शस्त्रोंको प्राप्त करने के लिये शिव की आराधना करने का उपदेश देता है और कहता है कि केवल वही इन शस्त्रों को दे सकता है।

एक बार वह पुनः तपस्या और कठोर व्रतों में लगता है, यहां तक कि इसकी कठोर तपस्या का समाचार स्वयं शिव के कान तक पहुंचता है। अब शिव इस पुण्यात्मा क्षत्रिय से मिलने के लिए आते हैं, उसे तपस्या से विचलित करने के लिये वृद्ध के वेष में नहीं वरन उसके बल की परीक्षा करने के लिये योधा के वेष में। वह किरात अर्थात् जंगली शिकारी का वेष धारण करते हैं और एक बड़ा सूअर जो कि अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये आया था मारा जाता है। अर्जुन और वेषधारी शिव दोनों इस पशु के मारने का दावा करते हैं और इस प्रकार एक झगड़े का आरम्भ होता है और दोनों में युद्ध होने लगता है जिसे कि हमारे ग्रन्थकार ने पूरे छः अध्यायों में वर्णन किया है।

यह युद्ध यद्यपि प्रभावशाली और उत्तेजित वाक्यों से भरा हुआ है तथापि वह उस अतिशयोक्ति में लिखा गया है जो कि हिन्दू कवियों में आम तरह से पाई जाती है। सर्पबाण, अग्निबाण और वृष्टिबाण छोड़े जाते हैं यहां तक कि आकाश फुफकारते हुए सर्पों, धधकती हुई अग्नि और वृष्टि की धारा से भर जाता है! परन्तु इन सब अद्भुत शस्त्रों से अर्जुन का कार्य नहीं हुआ और उसको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह जङ्गली किरात उसके सब शस्त्रों का जवाब अधिक बलवान शस्त्रों से देता रहा और अपने समय के सब से निपुण योधा से कहीं बढ़कर था।

कठिन कौशल देखि किरात को चकित अर्जुन सब्र विघातक।
चुप रहे बहु संशय में परे। तब उठी मन में यह भावना॥

योधा महा श्रति बलिष्ठ रहे जहां ही।
जाके भिरयो अरु परास्त कियो तहां ही॥
क्या भानु दीन बनि चन्द्रहिं सीस नावै।
हा क्या गंवार इक अर्जुन को गिरावै॥
है इन्द्रजाल अथवा यह स्वप्न कोई।
हूँ मैं यथार्थ महं अर्जुन बीर सोई॥
क्यों हा अपार बल मोर चलै न आपै।
वे सीख की इस बनेचर की कला पै॥

नभ चाहत है दुइ टूक कियो। गहि भूतल पिंड कँपाइ दियो॥
करतो किहि भांति गंवार अरे। निहचै कोउ रूप छिपाय लरे॥
जग द्रोण न भीष्महिं देखि परैं। अस घात बचाइ जो वार करैं॥
बन को चर एक गंवार महां। अस युक्ति अलौकिक पावै कहां॥

अन्त में सब शस्त्रों से विहीन होने पर अर्जुन अपने अजीत शत्रु पर मल्लयुद्ध करने के लिए टूटता है। यह मल्लयुद्ध बहुत समय तक होता है, और शिव जो कि सामान्य योधा नहीं थे अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये उछल कर हवा में जाते हैं और अर्जुन उनका पैर खींच कर उन्हें गिराना चाहता है। इसको हमारा महान देवता सहन नहीं कर सकता, एक सच्चा भक्त उसका पैर पकड़े हुए है, अतः वह अपने को प्रकट करता है और इस देवतुल्य योधा को आशीर्वाद देता है, उसे उसके वांछित शस्त्रों को देता है जिससे कि वह अपना राज्य और यश प्राप्त कर सकता है।

भारवि का प्रसिद्ध काव्य इस प्रकार का है। उसमें कोई मनोरञ्जक कथा वा कोई विलक्षण कल्पना नहीं है। पर उसके विचार और वाक्यों में वह प्रभाव और प्रबलता पाई जाती है जिसने कि इस ग्रन्थ को प्राचीन हिन्दुओं के अविनाशी ग्रन्थों में स्थान दिया है।

अब सातवीं शताब्दी में हमें चीन यात्री इत्सिंग से विदित होता है कि कवि भर्तृहरि शीलादित्य द्वितीय के समय में थे। भर्तृहरि के शतकों से विदित होता है कि वे हिन्दू थे परन्तु फिर भी इन शतकों में उनके समय के बौद्ध विचारों के चिन्ह मिलते हैं। यहां उनमें से कुछ श्लोकों के उद्धृत करने से पाठकों को भर्तृहरि की कविता का कुछ ज्ञान हो जायगा।

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरं।
त्वसंतो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥
प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥
लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥
अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ॥
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्थानचेतस्त्वयि मम सुतरामेषराजन्गतोऽस्मि।
किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
　　　　सारंगाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्येव विद्यांगना
　　　　मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥

उपरोक्त कविता से हमारे पाठकों को प्रोफेसर लेसन साहब की यह सम्मति समझ में आजायगी कि यह भर्तृहरि के काव्य की सुन्दरता और तीक्ष्णता ही है जो कि उसे भारतवर्ष के साहित्य में प्रसिद्ध बनाती है और जिस पूर्ण निपुणता के साथ ये श्लोक बनाए गए हैं वे उन्हें भारतवर्ष के सब से उत्तम काव्यों में गणना करे जाने के योग्य बनाते हैं ।

हम पहिले देख चुके हैं कि भट्टीकाव्य नाम का एक महाकाव्य भी सम्भवतः भर्तृहरि का बनाया हुआ है । इसमें रामायण की कथा संक्षेप में कही गई है और इस ग्रन्थ में विशेषता यह है कि वह व्याकरण सिखलाने के लिये बनाया गया है । धातु के सब रूप जिसका स्मरण रखना कि कठिन है, और शब्दों के सब कठिन रूप सुस्वरयुक्त पद्य में दिए गए हैं जिसमें कि इस काव्य को जानने वाला विद्यार्थी संस्कृत का व्याकरण जान जाय । इस काव्य में कालिदास की कविता का सौन्दर्य्य अथवा भारवि की कविता की समानता नहीं है परन्तु शब्दों और वाक्यों की रचना पूर्ण और अद्वितीय तथा शतक के ग्रन्थकर्ता के योग्य है ।

हिन्दू विद्यार्थी अन्य दो महा काव्यों का भी अध्ययन करते हैं परन्तु वे पीछे के समय के हैं और सम्भवतः ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में बनाए गए थे जब कि भारतवर्ष राजपूतों के अधीन होगया था । इनमें से पहिला तो श्रीहर्ष का बनाया हुआ नैषध है और दूसरा माघ का

शिशुपालबध । इन दोनों की कथाएँ महाभारत से ली गई हैं ।

नैषध में नल और दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा है जो कि महाभारत की कथाओं में एक सब से हृदयवेधक है । डाक्टर बुहलर साहेब इस काव्य के बनाने का समय १२ शताब्दी निश्चत करते हैं । राजशेखर ने इस कवि का जन्म बनारस में लिखा है, परन्तु वह निस्सन्देह बङ्गाल से भी परिचित था और विद्यापति ने श्रीहर्ष को बङ्गाली लिखा है । यह अनुमान सम्भव है कि वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से बङ्गाल में जाकर बसा हो ।

शिशुपाल बध में कृष्ण के अहङ्कारी राजा शिशुपाल को बध करने की कथा है जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम ही से विदित होता है । इसमें भारवि के किरातार्जुनीय की नकल है और ग्रन्थकार ने सम्भवतः अपना नाम माघ (जाड़े का मास) यह प्रगट करने के लिये रक्खा है कि उसने भारवि (जिसका अर्थ सूर्य है) का यश छीन लिया है । भोजप्रबन्ध के अनुसार वह ग्यारहवीं शताब्दी में धार के राजा भोज का समकालीन था ।

समस्त संस्कृत भाषा में सब से सुन्दर राग का गीत गीतगोविन्द है जिसे बङ्गाल के जयदेव ने बारहवीं शताब्दी में लिखा है ।

जयदेव लक्ष्मणसेन की राज्य सभा का कवि था जैसा कि उसके काव्य की एक प्राचीन प्रति के अन्तिम भाग से प्रमाणित हुआ है जिसे डाक्टर बुहलर ने काश्मीर में पाया था । उसने इस राजा से कविराज की पदवी पाई थी । उसके काव्य में कृष्ण और राधा की प्रीति का विषय है । यहाँ

पर एक उद्धरण ही बहुत होगा। उसमें कृष्ण का अन्य सखियों से विहार करने का तथा पाँचों इन्द्रियों अर्थात् घ्राण, दृष्टि, स्पर्श, स्वाद और श्रवण को सन्तुष्ट करने का वर्णन है।

चंदनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुंडलमंडितगंडयुगस्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलि परे।
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदंचितपंचमरागम्॥
कापि विलासविलोलविलोचन खेलनजनितमनोजम्।
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम्॥
कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले॥
केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले।
मंजुलवंजुलकुंजगतं विचकर्ष करेण दुकूले॥
करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे।
रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे॥
श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि रमयति कामपि रामाम्।
पश्यति सस्मितचारु परामपरामनुगच्छति वामाम्॥

अध्याय १४

कहानी।

प्राचीन समय के लोगों को भारतवर्ष विज्ञान और काव्य के लिये उतना विदित नहीं था जितना कि कथा और कहानियों के लिये। सब से प्राचीन आर्य कहानियाँ जो अब तक मिलती हैं जातक कथाओं में हैं जिसका समय ईसा के कुछ शताब्दी पहिले से है और डाक्टर रहेज डेविस साहब ने

दिखलाया है कि उसमें से बहुतों का प्रचार योरप के भिन्न भिन्न भागों में हुआ और उन्होंने आजकल अनेक भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं।

पंचतंत्र की कहानियां अपने आधुनिक रूप में सहज और सुन्दर संस्कृत गद्य में संकलित की जाने के सम्भवतः कई शताब्दी पहिले से भारतवर्ष में प्रचलित थीं। इस ग्रन्थ का अनुवाद नौशेरवां के राज्य में (५३१-५७२ ई०) फारसी में किया गया था और इस कारण यह निश्चय है कि यह संस्कृत का ग्रन्थ यदि अधिक पहिले नहीं तो छठीं शताब्दी में तो अवश्य बन गया था। फारसी अनुवाद का उलथा अरबी भाषा में हुआ और अरबी से समीअन सेठ ने सन् १०८० के लगभग इसका युनानी भाषा में अनुवाद किया। फिर युनानी से इसका उलथा लेटिन भाषा में पोसिनस ने किया। और इसका हीब्रू भाषा में अनुवाद रेबो जोल ने सन् १२५० के लगभग किया। अरबी अनुवाद का एक उलथा स्पेन की भाषा में सन् १२५१ के लगभग प्रकाशित हुआ। जर्मन भाषा का पहिला अनुवाद १५ वीं शताब्दी में हुआ और उस समय से ग्रन्थ का अनुवाद युरोप की सब भाषाओं में हो गया है और वह पिलपे वा बिडपे की कहानियों के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार कई शताब्दियों तक संसार के युवा लोग पशुओं की इन सरल परन्तु बुद्धिमानी कहानियों से प्रसन्न होते थे जिन्हें कि एक हिन्दू ने अपने देश की प्रचलित कहानियों से संकलित किया था।

जब हम छठीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी की ओर देखते हैं तो हमें संस्कृत पद्य में बड़ा परिवर्तन देख पड़ता है। इस शताब्दी में अधिक अलंकृत और कठिन परन्तु उच्च और बनावटी भाषा में भड़कीले ग्रन्थ बनाए गए। दण्डी ने अपना

दशकुमारचरित्र सम्भवतः ७ वीं शताब्दी के आरम्भ ही में बनाया है इस ग्रन्थ में जैसा कि उसके नामही से प्रगट होता है दस कुमारों की कहानी है जिन पर कई घटनाएं और विशेषतः अलौकिक घटनाएं हुई । इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अलंकृत और बनावटी है तथापि कादम्बरी की भाषा के इतनी वह फजूल नहीं है।

कादम्बरी का प्रसिद्ध ग्रन्थकार बाण भट्ट, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं शीलादित्य द्वितीय की सभा में था और उसने रत्नावली नाटक बनाया है तथा हर्षचरित्र नामक शीलादित्य का जीवनचरित्र बनाया है। बाण भट्ट का पिता चित्रभानु और उसकी माता राज्यदेवी थी और बाण जब केवल १४ वर्ष का था उस समय चित्रभानु की मृत्यु हो गई। भट्टनारायण ईशान और मयूर बाण भट्ट के बाल्यावस्था के मित्रों में से हैं।

कादम्बरी की कहानी मनमानी और थकानेवाली है। उन्हीं दोनों प्रेमियों के कई जन्म होते हैं और फिर भी उनका एक दूसरे के साथ वही अटल प्रेम बना रहता है। इस में उत्कट काम, नितान्त शोक, अटल प्रेम और भयानक एकान्त में कठोर तपस्याओं के दृश्यों का वर्णन बड़े पराक्रम और भाषा के बड़े गौरव के साथ किया गया है। परन्तु इसके पात्रों में चरित्र बहुत कम पाया जाता है। वे सब भाग्य परिवर्तन तथा उन विचारों के अधीन देख पड़ते हैं जो कि प्रारब्ध के कारण होता है। इसी को दिखलाने में हिन्दू ग्रन्थकारों को बड़ा आनन्द होता है। हिन्दुओं के कल्पना पूर्ण ग्रन्थ में संसार के साधारण दुःखों को सहन करने या उनका सामना करने के दृढ़ संकल्पों का वर्णन बहुत ही कम मिलता

है। शेष बातों के लिये इस ग्रन्थ की भाषा में अद्भुत बल होने पर भी वह अलंकृत और व्यर्थ बढ़ाई हुई है और बहुधा एक ही वाक्य जिसमें बहुत से विशेषण और लम्बे लम्बे समास भरे हैं और जिसमें उपमा तथा अलंकार बहुत ही अधिक पाया जाता है, कई पृष्ठों तक चला गया है।

सुबन्धु भी उसी राज्य में था और उसने वासवदत्ता लिखी। राजकुमार कंदर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता एक दूसरे को स्वप्न में देख कर परस्पर मोहित हो गए। राजकुमार कुसुमपुर (पाटलीपुत्र) में गया। वहां राजकुमारी से मिला और उसे एक हवा में उड़ने वाले घोड़े पर चढ़ा कर विन्ध्य पर्वत पर ले गया। वहां वह सो गया और जब जागा तो उसने राजकुमारी को नहीं पाया। इस पर कंदर्पकेतु आत्महत्या करने को था कि उसे एक आकाशवाणी ने ऐसा करने से रोका और उसे अपनी प्रियतमा के साथ अंत में मिलने के लिये कहा। बहुत भ्रमण करने के अनन्तर उसे एक पत्थर की मूर्ति मिली जो कि उसकी बहुत दिनों से खोई हुई स्त्री के सदृश थी। उसने उसे छूआ और आश्चर्य की बात है कि छूते ही वासवदत्ता जीवित हो गई। एक ऋषी ने उसे पाषाण बना दिया था परन्तु दया करके यह कहा था कि जब उसका पति उसे छूएगा तो वह जीवित हो जायगी।

हमें अभी एक वा दो आवश्यक ग्रन्थों के विषय में लिखना है। वृहत कथा उन कहानियों और कथाओं का संग्रह है जो कि दक्षिणी भारतवर्ष में पैशाची भाषा में बहुत समय से प्रचलित थीं। १२ वीं शताब्दी में काश्मीरी सोमदेव ने उसे संक्षिप्त करके संस्कृत भाषा में काश्मीर की रानी सूर्य्यवती

का उसके पोते हर्षदेव की मृत्यु पर जी बहलाने के लिये लिखा था और यह संक्षिप्त संग्रह कथासरित्सागर के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि इन कथाओं को पहिले पहिल पाणिनी के समालोचक और मगध के राजा चन्द्रगुप्त के मंत्री कात्यायन ने कहा था और उन्हें एक पिशाच ने दक्षिणी भारतवर्ष में लेजाकर पिशाची भाषा में गुणाढ्य से कहा जिसने कि उनका संग्रह करके उन्हें प्रकाशित किया। यह कहना अनावश्यक है कि इन कथाओं का कात्यायन के साथ सम्बन्ध जोड़ना कल्पित बात है। ये कथाएँ दक्षिणी भारतवर्ष की हैं और वे पहिले पहल पैशाची भाषा में थीं।

सोमदेव की संस्कृत कथा सरित्सागर में १८ भाग और १२४ अध्याय हैं और उसमें भारतवर्ष में जितनी बातें दन्तकथा की भांति विदित हैं प्रायः वे सब आ गई हैं। हमें उनमें बहुधा महाभारत और रामायण की कथाएं, कुछ पुराणों की कथाएं, पञ्चतन्त्र की बहुत सी कथाएं, बैताल पचीसी की पचासों कहानियां, कुछ कहानियां जिन्हें कि हम समझते हैं कि सिंहासन बत्तीसी की हैं और उज्जैनी के प्रतापी विक्रमादित्य की बहुत सी कहानियां हैं। इन कहानियों से लोगों के गृहस्थी सम्बन्धी जीवनचरित्र और चाल व्यवहार का पता लगता है।

उज्जैनी के विक्रमादित्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह रानी सौम्यदर्शना से महेन्द्रादित्य का पुत्र था और उसका दूसरा नाम विषमशील (शीलादित्य) था। इसमें यह भी कहा गया है कि वह पृथ्वी में इस कारण भेजा गया था कि देवता लोगों में भारतवर्ष में म्लेच्छों के उपद्रव से असन्तोष

हुआ और विक्रम ने अपने कार्य्य को पूरा किया और म्लेच्छों का नाश किया।

अब कथा का केवल एकही प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थात् हितोपदेश रह गया है जो कि केवल प्राचीन पञ्चतन्त्र के एक अंश का संग्रह है। यह बात विलक्षण है कि कहानियों के ये सब ग्रन्थ संस्कृत में हैं। यद्यपि पौराणिक काल में भारतवर्ष में प्राकृत भाषाएं बोली जाती थीं।

वररुचि जो कि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से है, पहिला वैयाकरण है जिसने कि प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है। उसने चार प्रकार की भाषाएं लिखी हैं अर्थात् महाराष्ट्री या ठेठ प्राकृत सौरसेनी जो कि महाराष्ट्री के बहुत समान है और उसी की नाईं संस्कृत से निकली है, पैशाची और मागधी इन दोनों ही की उत्पत्ति सौरसेनी से बतलाई गई है। उत्तरी भारतवर्ष में इन प्राकृत भाषाओं का प्रचार धीरे धीरे उस प्राचीन पाली भाषा से हुआ जो कि बौद्धों की पवित्र भाषा थी और १००० वर्ष तक बोलने में आया रही थी। वास्तव में वे राजनैतिक और धर्म्म सम्बन्धी बातें जो कि गिरते हुए बौद्ध धर्म्म के स्थान में एक नए प्रकार के हिन्दू धर्म्म को स्थापित करने के कारण हुई थीं उनका निःसन्देह प्राचीन पाली भाषा के स्थान में नवीन प्राकृत भाषाओं के प्रचार करने में बड़ा प्रभाव पड़ा।

भारतवर्ष में तथा अन्यत्र भी राजनैतिक और धर्म्म सम्बन्धी परिवर्तन के साथ साथ प्रायः बोलने की भाषा में एकाएक परिवर्तन ही नहीं होता वरन् यह परिवर्तन बल पूर्वक एकाएक स्थापित हो जाता है। जिस समय गङ्गा और यमुना के उद्योगी बसने वालों ने अपनी मातृभूमि पञ्जाब को

विद्या और सभ्यता में पीछे छोड़ा तो ऋग्वेद की संस्कृत का स्थान ब्राह्मणों ने लिया। मगध और गौतम बुद्धके उदय होने के साथ ही साथ ब्राह्मणों की संस्कृत का स्थान पाली भाषा ने लिया। बौद्ध धर्म्म के पतन और विक्रमादित्य के राज्य में पौराणिक हिन्दू धर्म्म के उदय होने के साथ प्राकृत भाषाओं ने पाली का स्थान ले लिया। और अन्त में प्राचीन जातियों के पतन और राजपूतों के उदय होने के साथ १० वीं शताब्दी में हिन्दी भाषा का उदय हुआ जो कि अब तक भी उत्तरी भारतवर्ष में बोली जाती है।

ये सब बातें समझ में आजाती हैं। परन्तु कालिदास और भारवि के ग्रन्थों के पढ़ने वालों के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या इन कवियों ने मृत भाषा में अपने ग्रन्थ लिखे हैं? क्या शकुन्तला और उत्तरचरित जैसे ग्रन्थ मृत भाषा में लिखना सम्भव है? क्या अन्य जातियों के इतिहास में ऐसे अद्वितीय सुन्दर ग्रन्थों के मृत भाषा में बनने का एक भी उदाहरण मिलता है?

जिन लोगों ने प्राकृत भाषाओं को संस्कृत से मिलान किया है उनके लिये इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन नहीं होगा। पौराणिक काल में संस्कृत उस प्रकार से मृत भाषा नहीं थी जैसे कि युरोप में आज कल लैटिन मृत भाषा है। लैटिन और स्वयं इटेलियन भाषा में जो अंतर है उससे कहीं कम अन्तर संस्कृत और प्राकृत में है। जिस समय प्राकृत साधारणतः बोली जाती थी उस समय भी संस्कृत बराबर समझी जाती थी और राजसभाओं में बोली भी जाती थी। विद्वान लोग संस्कृत में ही वाद विवाद करते थे। राज्य की सब आज्ञायें और विज्ञापन संस्कृत में ही निकलते

थे। पंडित लोग राजसभाओं और पाठशालाओं में संस्कृत में ही बात चीत करते थे। संस्कृत में ही छन्द गाए जाते थे और नाटक खेले जाते थे। सब शिक्षित और सभ्य लोग संस्कृत समझते थे और बहुधा संस्कृत बोलते थे। सम्भवतः साधारण लोग जो प्राकृत बोलते थे वे भी सामान्य सरल संस्कृत समझ लेते थे। शिक्षित और विद्वान लोग तो निस्संदेह संस्कृत से पूर्णतया परिचित थे। वे इसी भाषा को सदा पढ़ते थे, इसी को बहुधा बोलते थे और इसी भाषा में वे लिखते और विचारते और बातचीत भी करते थे। अतः पौराणिक समय में संस्कृत ऐसी मृत भाषा नहीं थी जैसी कि अब वह है और कालिदास और भवभूति ने शकुन्तला और उत्तरचरित को लिखने में ऐसी मृत भाषा का प्रयोग नहीं किया है।

अध्याय १५।

प्राचीन काल का अन्त।

अब हम भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के इस संक्षिप्त और अधूरे इतिहास को समाप्त करेंगे। इस पुस्तक में इस बड़े विषय का पूर्ण वर्णन देने का उद्योग करना असम्भव था। हमने भारतवर्ष के इतिहास को केवल मुख्य मुख्य बातों के वर्णन करने का तथा भिन्न भिन्न कालों की हिन्दु सभ्यता का वर्णन मोटी रीति से दिखलाने का उद्योग किया है। यदि इस वर्णन से हमारे देश भाइयों को हमारे प्राचीन

पुरुषाओं का वर्णन चाहे कैसी अस्पष्ट रीति से विदित हो जाय तो हम अपने परिश्रम को व्यर्थ नहीं समझेंगे। अब हम थोड़े समय के लिये उनका ध्यान अपने वर्णन के अन्तिम पृष्ठों पर देने की प्रार्थना करेंगे जिसमें कि मुसल्मानी विजय के पहिले हिन्दू इतिहास के अन्तिम काल की सामाजिक चाल व्यवहार और सभ्यता का वर्णन है। हिन्दू इतिहास के अन्तिम काल में दो भाग स्पष्ट हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के दिल्ली और अजमेर के राजपूतों की चाल व्यवहार आधुनिक काल की है और वह विक्रमादित्य और शीलादित्य के समय से भिन्न है जो कि प्राचीन काल की थी। राजपूत लोगों का सम्बन्ध आधुनिक इतिहास से है, विक्रमादित्य और शीलादित्य का प्राचीन इतिहास से। ९ वीं और १० वीं शताब्दी का वह अन्धकारमय समय भारतवर्ष के प्राचीन काल और आधुनिक काल को जुदा करता है।

हम इस अध्याय में प्राचीन काल के अन्त समय के अर्थात् छठीं से सातवीं शताब्दी तक हिन्दुओं की सभ्यता के विषय में लिखेंगे।

हम कालिदास और भवभूति के समय के हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को दिखलाने का उद्योग करेंगे और इस विषय की सामग्री हमें इन कवियों तथा इस काल के अन्य कवियों के अमर ग्रन्थों से मिलेगी। अगले अध्याय में हम उस समय की सभ्यता को दिखलाने का यत्न करेंगे जब कि आधुनिक काल का आरम्भ होता है अर्थात् १० वीं से १२ वीं शताब्दी तक, और इस काल की सामग्रियां हमें एक विचार शील विद्वान और सहानुभूति रखने वाले विदेशी की टिप्पणियों

से मिलेगी जो कि हमारे लिये इस काल का इतिहास छोड़ गया है ।

स्वयं कालिदास ने दुष्यन्त के वर्णन में अपने समय के विक्रमादित्य जैसे बड़े राजाओं का वर्णन किया है । हम उससे किसी अंश में उत्तरी भारतवर्ष के इस प्रतापी राजा के अपने विलासी और विद्वान सभा तथा अपने सिपाहियों और पहरुओं के बीच जीवन व्यतीत करने का कुछ अनुमान कर सकते हैं । अपने आचरण में वीरोचित और फुर्तीला होने के कारण वह युद्ध तथा शिकार खेलने में प्रसन्न होता था और बहुधा भारतवर्ष के पहिले समय के जङ्गलों में शिकार खेलने के लिये अपने सैनिकों, रथों, घोड़ों और हाथियों के सहित जाता था । मध्य समय के युरोप के सम्राटों की नाईं हिन्दू राजाओं के साथ भी सदा एक विदूषक रहता था और यह विदूषक ब्राह्मण होता था जिस की कि मूर्खता के कारणमय स्थूल रुचि और समय समय पर हास्यजनक बातें राजा को उसके अवकाश के समय में प्रसन्न करती थीं । सैनिक लोग रात दिन महल का पहरा देते थे और महल के भीतर स्त्री पहरुए राजा के पास प्रस्तुत रहते थे और वे एक वृद्ध और विश्वास पात्र कर्म्मचारी के आधीन रहते थे । कवि के वृत्तान्त से यह विदित होता है कि शक लोगों का बड़ा विजयी शक स्त्रियों से घृणा नहीं करता था और वे उसके महलों की रखवाली करती थीं और उसके साथ शिकार खेलने के लिये तीर और धनुष लेकर जाती थीं और फूलों से सुसज्जित रहती थीं । वास्तव में यदि हम कथासरित्सागर पर विश्वास कर सकें और कि प्राचीन ग्रंथ बृहत कथा के अधार पर बनाए जाने के कारण बहुमूल्य है तो उज्जैनी के सम्राट् ने जिन अनेक

सुन्दर स्त्रियों से विवाह किया था उनकी जाति पर वह विशेष ध्यान नहीं देता था। इनमें से एक भील जाति की राजकुमारी मदनसुन्दरी थी और उसके विवाह में उसके पिता ने कहा था "मेरे सम्राट्, मैं बीस हजार धनुर्धारियों के साथ दास की नाईं तुम्हारा साथ दूंगा" इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि यह सम्राट् मलयपुर की राजकुमारी मलयावती पर उसका चित्र देखकर, और बंगाल की राजकुमारी कलिंगसेना पर एक विहार में उसकी पत्थर की मूर्ति देखकर मोहित हो गया। और यह कहना अनावश्यक है कि इन दोनों स्त्रियों ने अन्त में इस सम्राट् के बड़े महल में स्थान पाया। (क० स० सा० अध्याय १८)

विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र के ग्रन्थकारों ने उन द्वेष और डाह को कुछ कम करके दिखलाया होगा जो कि बहुधा राज्य महलों में पाए जाते थे। राजा को सदा बहुत सी स्त्रियां होती थीं और बहुधा राजकीय कार्य के लिये। इन उच्च रानियों के सिवाय रानियों की बहुत सी सुन्दर दासियां भी राजा की प्रीति पात्र हो जाती थीं और वे अपनी रानियों द्वारा दण्ड पाती थीं। इन सब बातों के रहते हुए भी प्रधान रानी का सदा बड़ा सत्कार और मान होता था। वही घर की स्वामिनी होती थी और प्रत्येक राजकीय अवसर पर राजा के साथ सम्मिलित होती थी।

रानियों की नाईं सामान्य स्त्रियों के कमरे भी मनुष्यों से जुदे होते थे। यही रीति यूरोप में रोम और पोम्पिआई के प्राचीन समय में प्रचलित थी और संस्कृत कवियों ने इन सुन्दर स्त्रियों की शान्त गृहस्थी का जीवन बहुधा

वर्णन किया है। परन्तु स्त्रियों का पूरा पर्दा पौराणिक काल में भी नहीं था। शकुन्तला और मलयावती के सम्मुख जब दुष्यन्त और जीमूतवाहन जैसे अपरिचित लोग उपस्थित हुए तब वे पर्दे में नहीं चली गईं। मालती अपनी पूरी युवा अवस्था में त्योहार के दिन नगर वासियों के बड़े समूह में हाथी पर सवार होकर मन्दिर को गई थी और वहां उसे वह युवा मिला था जिसने कि उस के हृदय को चुरा लिया था और पलटे में उसने अपना भी हृदय उसे दे दिया। कथासरित्सागर के पहिले अध्याय में हम कात्यायन की माता को दो अपरिचित ब्राह्मणों का आतिथ्य करते हुए और उनके साथ बिना किसी रोक टोक के बात करते हुए पाते हैं और वर्ष की स्त्री ने भी पहिले इन्हीं दोनों अपरचित लोगों का स्वागत किया था और उनसे अपने पति की आपत्तियों का वर्णन किया था। इस बड़े ग्रन्थ की असंख्य कहानियों में हमें एक उदाहरण भी ऐसा नहीं मिलता जिसमें कि सामान्य स्त्रियों के इस प्रकार पर्दे में रक्खे जाने का वर्णन हो जिस प्रकार की पीछे के समय में मुसल्मानों के राज्य में नई रीति हो गई। मृच्छकटि में चारुदत्त की धर्मात्मा और सुशील स्त्री चारुदत्त के मित्र मैत्रेय के साथ बिना किसी रुकावट के वार्तालाप करती है और कादम्बरी, नागानन्द रत्नावली तथा अन्य सब प्राचीन ग्रन्थों में हम नायिका को अपने पति के मित्रों के साथ बहुधा वार्तालाप करते हुए पाते हैं। निस्सन्देह राज्य महलों की रानियों के लिये कुछ अधिक रुकावटें थीं परन्तु वे भी राजा के मित्रों से मिल सकती थीं। जब नरवाहन दत्त के मन्त्री अपनी नई रानी रत्नप्रभा से मिलने आए तो उसके सम्मुख जाने के पहिले उसे उनके आने की

सूचना दी गई । रानी इस आवश्यक कार्य्य पर भी बिगड़ी और उसने कहा कि मेरे पति के मित्रों के लिये मेरा द्वार बन्द नहीं रहना चाहिए क्योंकि वे मुझे अपने देह की नाईं प्रिय हैं !" (क० स० सा० अध्याय ३६)

विवाह दुलहे और दुलहिन के माता पिता करते थे। उदाहरण के लिये जब जीमूतवाहन से विवाह के लिये कहा गया तो उसके साथी ने कहा "उनके पिता के पास जाओ और उनसे कहो।" और उसके माता ने इस युवा की इच्छा को बिना जाने हुए अपनी सम्मति दे दी। यदि हम इस काल के कवियों पर बिश्वास कर सकते हैं तो विवाह बहुधा उचित अवस्था में किया जाता था। भवभूति के नाटक की नायिका मालती युवा होने के उपरान्त भी क्वारी ही थी। मालविका मलयावती और रत्नावली पूरे यौवन को प्राप्त होने पर भी क्वारी थीं और धर्मात्मा कन्व ऋषि ने शकुन्तला का विवाह तब तक करने का विचार नहीं किया जब तक कि युवा अवस्था में दुष्यन्त से उसकी भेंट न हुई और वह उस पर मोहित हो गई। विवाह की रीति वैसी ही थी जैसी कि प्राचीन समय में थी और जैसी कि आजकल वर्तमान है। अग्नि की परिक्रमा करना, अग्नि में अन्न डालना और दुलहिन और दुलहा का कुछ प्रतिज्ञा कराना यही विवाह की मुख्य रीतें समझी जाती थीं।

कन्याओं को लिखना और पढ़ना सिखलाया जाता था और प्राचीन ग्रन्थों में उनके चिट्ठियों के लिखने और पढ़ने के असंख्य उदाहरण हैं। मृच्छकटि में मैत्रेय कहता है कि जब मैं स्त्रियों को संस्कृत पढ़ते हुए वा मनुष्यों को गीत गाते हुए सुनता हूं तो मुझे बड़ी हँसी आती है।

परन्तु मैत्रेय को इससे चाहे जितनी घृणा हो पर इस वाक्य से कोई सन्देह नहीं जान पड़ता कि स्त्रियां बहुधा संस्कृत पढ़ती थीं और वैसे ही मनुष्य भी बहुधा गाना सीखते थे। स्त्रियों का गान विद्या में निपुण होने का बहुधा उल्लेख किया गया है। नागानन्द में एक अद्भुत स्थान पर लिखा है कि राजकुमारी मलयावती ने एक गीत गाया जिसमें मध्यम और उच्च स्वर भली भांति दर्साया था और इसके उपरान्त हमें यह भी विदित होता है कि उसने अंगुलियों से बाजा बजाया जिसमें ताल और स्वर के सरगम आदि का पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया था।

कथासरित्सागर (अध्याय ६) से हमें विदित होता है कि राजकुमारी मृगावती ने अपने विवाह के पहिले नाचने गाने तथा अन्य गुणों में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली थी। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं।

चित्रकारी की विद्या के भी मनुष्यों और स्त्रियों दोनों ही को जानने का बहुधा उल्लेख मिलता है और हम नागानन्द का एक वाक्य दिखला चुके हैं जिससे कि प्राचीन भारतवर्ष में रङ्गीन मिट्टी का चित्रकारी में व्यवहार किया जाना प्रगट होता है। उत्तररामचरित्र का प्रारम्भ कुछ चित्रों के वर्णन से होता है जिन्हें कि लक्ष्मण ने सीता को दिखलाया था और कथासरित्सागर (अध्याय १२२) से हमें विदित होता है कि नगरस्वामी विक्रमादित्य की सभा का चित्रकार था और उसने राजा को भिन्न भिन्न प्रकार के स्त्री सौन्दर्य के चित्र भेंट किए थे।

भारतवर्ष के कवियों ने विवाह सम्बन्धी प्रेम का जैसा उत्तम वर्णन किया है वैसा किसी ने नहीं किया। हम उत्तररामचरित

के वाक्य को उद्धृत कर चुके हैं जिसमें सीता के लिये राम के कोमल प्रेम का वर्णन है और हमारे जो पाठक संस्कृत साहित्य से परिचित हैं उन्हें निस्सन्देह सैंकड़ों ऐसी बातें स्मरण होंगी जिनमें कि हिन्दू पुरुषों के प्रेम और हिन्दू स्त्रियों की पतिभक्ति दिखलाई गई है *।

परन्तु गृहस्थी सम्बन्धी जीवन का वृत्तान्त सब काव्य ही में नहीं मिलता। हमें गृहस्थी के दुःखों और शोक का सच्चा ज्ञान भवभूति और कालिदास के काव्यों से नहीं मिलता जिनका कि कथासरित्सागर में दरिद्र, हानि, सम्बन्धियों वा पड़ोसियों की घृणा, पति की निर्दयता वा स्त्रियों का कलह का स्वभाव बहुधा शान्त गृह को दुखी बनाता और जीवन के लिये बोझ सा होता था। अन्य सब बुराइयों में एक में रहनेवाले कुटुम्बियों में झगड़े और आज्ञाकारी पत्नी पर सास और ननद के कठोर अत्याचार कम भयानक नहीं थे। सुशील और धर्मात्मा कीर्तिसेना ने इन अत्याचारों को सहन करते हुए दुःख से कहा है "इसी कारण सम्बन्धी लोग कन्या के जन्म में शोक करते हैं जो कि सास और ननद के अत्याचारों की पात्र रहती है।" (क० स० सा० अ० २९)

---

* "हिन्दू कवियों ने अपनी स्त्रियों की विरले ही कहीं निन्दा की है उन्होंने प्रायः सदा उन्हें प्रीति पात्र की भाँति लिखा है। इस बात में पे अधिक उच्च जातियों के और विशेष कर यूनान के कवियों को जो सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों में बड़ी डाह के साथ स्त्रियों की बुराई करते हैं शिक्षा दे सकते हैं। अरिस्टो फेनीज़ इस बात में युरीपाईजीज़ से कम नहीं है यद्यपि वह इस दुःखान्त नाटक लिखने वाले की स्त्रियों प्रति कुव्यवहार की हँसी उड़ाता है।

इस बात को दिखलाने के लिये बहुत से वाक्य उद्धृत किए जाते हैं कि पौराणिक काल में विधवा विवाह का निषेध नहीं था। याज्ञवल्क्य कहता है कि "जिस स्त्री का दूसरी बार विवाह होता है वह पुनर्भव कहलाती है" (१, ६७) विष्णु कहता है कि जिस स्त्री का पतिसंसर्ग न हो कर पुनर्विवाह हो वह पुनर्भव कहलाती है (१५, ७ और ८) और पराशर भी, यद्यपि वह आधुनिक समय का ग्रन्थकार है तथापि वह ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह को आज्ञा देता है जिस का पति मर गया हो वा जाति बाहर हो गया हो वा योगी हो गया हो (४, २६)। मालवा के एक गृहस्थ की कन्या के विषय में एक हास्यजनक कहानी विदित है कि उसने निरन्तर ११ पति से विवाह किया था और ११ वें पति की मृत्यु पर इस विधवा ने सम्भवतः १२ वां विवाह किया होता परन्तु "पाषाण भी उसकी हँसी किए बिना नहीं रह सकते थे" और इस कारण उसने योगी का जीवन ग्रहण कर लिया। (क० स० सा० अध्याय ६६)

ऊपर हम हिन्दू स्त्रियों की प्रीति और पतिभक्ति के विषय में लिख चुके हैं। जातीय जीवन तथा स्त्रियों के सत्कार के पतन के साथ ही साथ पौराणिक काल में स्त्रियों की इस पतिभक्ति ने एक निर्दयता का रूप धारण किया। पौराणिक काल के पहिले भारतवर्ष के ग्रन्थों में सती होने की रीति का कहीं भी उल्लेख नहीं है। मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्य की स्मृति में भी उसका कहीं वर्णन नहीं है। हमें इस रीति की उत्पत्ति की कथा पहिले पहिल पौराणिक काल के ही ग्रन्थों में मिलती है।

अग्नि में प्रवेश कर के आत्महत्या करना भारतवर्ष में सिकन्दर के समय में और उससे भी पहिले विदित था।

पौराणिक काल में जब पति का अपनी स्त्रियों का सत्कार करने की अपेक्षा स्त्रियों की पतिभक्ति पर विशेष ज़ोर दिया गया तो अन्य लोगों की परीक्षा विधवाओं के उपरोक्त रीति से आत्महत्या करने को एक यश का कार्य्य कहा गया। इस प्रकार वाराहमिहिर अपने ज्योतिष शास्त्र में स्त्रियों की परीक्षा इस कारण करता है कि वे अपने पति की मृत्यु पर अग्नि में प्रवेश करती हैं परन्तु मनुष्य अपनी स्त्रियों की मृत्यु के उपरान्त पुनः विवाह कर लेते हैं। परन्तु फिर भी आग में जलने की यह रीति पौराणिक काल में भी केवल स्त्रियों वा विधवाओं के लिये नहीं थी। मालती माधव में मालती का पिता अपनी कन्या के शोक में चिता पर चढ़ने की तय्यारी करता है और नागानन्द में तो जीमूतवाहन के पिता माता और पत्नि इस राजकुमार के शोक में चिता में जलमरने का संकल्प करते हैं।

कथासरित्सागर में हम एक कुमारी को जो कि अपने प्रियतम से मिलने में निराश हो गई थी चिता में प्रवेश करने की तयारी करते हुए पाते हैं (अ० ११८ और १२२)। और अब कहानियों से इतिहास की ओर दृष्टि डालने पर भी हमें विदित होता है कि राजालोग महमूद गजनवी के अधीन होने पर भी अपने देशवासियों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाने के कारण चिता में जल मरे थे। यह निस्सन्देह आत्महत्या की एक देसौआ रीति थी जब कि शोक या अपमान असह्य हो जाता था और जीना शोक युक्त हो जाता था और फीका जान पड़ता था। ऐसी आत्महत्या करना बुरा तो था ही पर वह उस समय तो कायरपन और अपराध होगया जब कि मनुष्यों ने इसका करना छोड़ दिया और केवल स्त्रियों के गले

इस रीति को उनके पति के मृत्यु पर किए जाने के लिये यश के कार्य की भांति लगा दिया। और जब हिन्दू जाति में जीवन नहीं रह गया तो यह आत्महत्या एक स्थिर रीति हो गई।

प्राचीन भारतवर्ष में प्राचीन यूनान की नाईं बड़ी सुन्दर और गुणी वेश्याएँ अपने आज कल की अधम बहिनों की अपेक्षा अधिक सम्मानित थीं और अधिक उत्तम और उच्च जीवन व्यतीत करती थीं। अम्बपाली जिसने कि ठाठ बाट और घमण्ड में लिच्छवि राजाओं की बराबरी की थी और जिसने धार्मिक गौतम बुद्ध को अपने यहाँ निमन्त्रण दिया था उससे अस्पेसिया का स्मरण हो आता है जिसने सुक्रात का आतिथ्य किया था। इसी प्रकार मृच्छकटि की नायिका वसन्तसेना भी बड़े ठाठ बाट से रहती थी। वह उज्जैनी के युवा लोगों का एक साधारण सभा में स्वागत करती थी जहाँ कि जुआ खेलने की सामग्री, पुस्तकें, चित्र तथा मन बहलाव की अन्य वस्तुएँ प्रस्तुत रहती थीं, वह अपने यहाँ निपुण शिल्पकारों और जौहरियों को रखती थी, वह दुखी दरिद्री लोगों की सहायता करती थी और अपने व्यवसाय को करते हुए भी "वह सुशीलवती, अनन्त रूपवती और समस्त उज्जैनी का अभिमान थी।"

इसी भाँति कथासरित्सागर (अध्याय ३८) से भी हमें विदित होता है कि दक्षिणी भारतवर्ष की राजधानी प्रतिष्ठान की वेश्या मदनमाला "राजा के महल के सदृश्य" महल में रहती थी और उसके रक्षक सिपाही, घोड़े और हाथी थे। उसने विक्रमादित्य का (जो कि उसके यहाँ वेष बनाकर गया था) सत्कार स्नान, पुष्प, सुगन्धि, वस्त्र, आभूषण और बहुमूल्य भोजन से किया था। और इसी ग्रन्थ के १२४ वें

अध्याय से हमें फिर विदित होता है कि उज्जैनी की वेश्या देवदत्ता अपने राजा के योग्य महल में रहती थी।

हमें कहना नहीं पड़ेगा कि जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय उज्जैनी भारतवर्ष में सब से बड़ी चढ़ी नगरी थी। गुण और सौन्दर्य्य तथा धन और राज्य प्रभुता ने छठीं शताब्दी में इस प्राचीन नगरी की अद्वितीय शोभा बढ़ाने में योग दिया था। मेघदूत में यक्ष ने मेघ से यह ठीक ही कहा है कि वह उज्जैनी में विना हुए न जाय और नहीं तो "तेरा दुर्भाग्य है और तेरा जन्म व्यर्थ ही हुआ है।"

ऐसी उच्च आज्ञाओं का उल्लङ्घन करने का साहस न करके मैं कुछ वर्ष हुए कि इस नगर को देखने गया था। उसकी प्राचीन कीर्ति अब नहीं रही है, उससे प्राचीन समय की बातों का स्मरणमात्र भी नहीं होता। परन्तु फिर भी इस नगरी की ऊँची नीची पत्थर की गलियों में घूमते, कारीगरी से बने हुए पुराने मकानों पर दृष्टि डालने से वहाँ के सरल हृदय वाले मनुष्यों की भीड़ को प्रसन्न चित्त देखने और महाकाल के प्राचीन मन्दिर में जाने से जो कि सम्भवतः इस नाम के उसी प्राचीन मन्दिर की भूमि पर बना है कि जिसका कालिदास ने मेघदूत में उल्लेख किया है हमारे हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह नगर प्राचीन समय में ऐसा था इसका अनुमान कर लेना सम्भव है। और निस्सन्देह मृच्छकटि में जो इस नगर का अद्भुत वर्णन दिया है वह हमारे इस अनुमान में कम सहायता नहीं देता। इस नाटक से हम प्राचीन समय के वर्णन का उद्योग करने में सहायता लेंगे।

राजा की छाया में शान्त व्यापारी और महाजन लोग व्यापारियों के बाजार में रहते थे जिसे कि कवि ने श्रेष्ठि चत्वर

के नाम से लिखा है। हिन्दू व्यापारी लोग सदा से शान्त और सीधे सादे थे। सम्भवतः उन लोगों के कार्य्यालय की शाखाएं उत्तरी भारतवर्ष के सब बड़े बड़े नगरों में थीं और वे लोग रेशम, रत्न और बहुमूल्य वस्तुओं का बड़ा भारी व्यापार करते थे और अपनी ठसाठस और सकरी गलियों के अन्धकारमय घरों में बहुत बड़ा कोष और द्रव्य रखते थे जिसे कि आवश्यकता के समय में राजा और महाराजा भी उधार लेना बुरा नहीं समझते थे। वे लोग केवल दान पुण्य और धार्मिक कार्य्यों में सीधे सादे थे और इस कारण वे इस नगर को बहुत से सुन्दर मन्दिरों से सुशोभित करते थे, पुजेरियों और ब्राह्मणों को भोजन कराते और सहायता देते थे और अपने अच्छे कार्यों से अपने नगर के लोगों में यश पाते थे। आज तक भी उत्तरी भारतवर्ष के सेठ और व्यापारी अपने द्रव्य और पुण्य के कार्य्यों के लिये सम्मानित हैं और वे अनेक मन्दिर बनवाते हैं जहां कि नित्य प्रति जैनियों और हिन्दुओं की पूजा होती है।

जौहरी और शिल्पकार व्यापारियों के पास बहुतायत से थे। कवि के शब्दों में "निपुण कारीगर, मोती, पुखराज, नीलम, पन्ना, लाल, मूंगा तथा अन्य रत्नों की परीक्षा करते हैं, कोई स्वर्ण में लाल जड़ते हैं, कोई रंगीन जोड़ों में स्वर्ण के आभूषण गूंथते हैं, कोई मोती गूंथते हैं, कोई अन्य रत्नों को सान पर चढ़ाते हैं, कोई सीप काटते हैं और कोई मूंगा काटते हैं। गंधी लोग केशर के थैले हिलाते हैं, चन्दन का तेल निकालते हैं और मिलावट की सुगन्ध बनाते हैं। इन शिल्पकारों की वस्तुएं उस समय के सब विदित संसार में बिकती थीं और उनकी कारीगरी की वस्तुओं की बगदाद में हारूनउलरशीद के दरबार में कदर की गई थी और उन्होंने

प्रतापी शार्लमेगन और उसके असभ्य दर्बारियों को आश्चर्यित किया था और अंग्रेजी कवि लिखता है कि वे लोग अपनी आंख फाड़कर बड़े आश्चर्य से रेशमी और कारचोबी के वस्त्र तथा रत्नों को देखते थे जो कि पूरब के दूर देश से युरोप के नवीन बाजारों में आए थे।

इससे छोटे व्यापारी अन्य गलियों में थे और अपने वस्त्र आभूषण और मिठाई और बहुत सी अन्य प्रकार की वस्तुएं दिखलाते थे दिनभर भीड़भाड़ से भरी गलियों में प्रसन्न और सरल हृदय के लोगों की खचाखच रहती थी।

परन्तु केवल बाजार ही लोगों के आने जाने का स्थान नहीं था वरन इसके सिवाय और भी विलक्षण स्थान थे। जूआ खेलने के घर राजा की आज्ञा से स्थापित थे जैसा कि यूरोप में अब तक भी है। जूआ खेलने वाले को प्रबन्ध रखने के लिये राजा नियत करता था और अग्नि पुराण के अनुसार वह राजा के लिये जीत का पांचवां वा दसवां भाग उगाहने का अधिकारी था। मृच्छकटि में एक जुआरी के दस स्वर्ण हारने का उल्लेख है और यह स्वर्ण निस्सन्देह सोने का सिक्का था जिसका मूल्य कि डाक्टर विल्सन साहेब ८॥।=) अनुमान करते हैं।

शकुन्तला से हमें विदित होता है कि नगर में मदिरा की दूकानें होती थीं जिनमें कि बहुत ही नीच जाति के लोग जाते थे। परन्तु विलासी राजसभा के दर्बारियों तथा दुराचारी और रसिक मनुष्यों में भी मदिरा पीने की रीति अविदित नहीं थी। भारवि ने एक सर्ग मदिरा पीने के आनन्द के विषय में लिखा है और कालिदास ने भी बहुधा ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है जिनके मुख मदिरा की महक

से सुगन्धित थे परन्तु अधिकांश लोग जो कि हिन्दू श्रेणी के तथा खेती वाणिज्य और परिश्रम करने वाले थे मदिरा नहीं पीते थे जैसा कि वे आजकल भी करते हैं।

बड़े नगरों के अन्य दुराचार भी उज्जैनी में अविदित नहीं थे। मृच्छकटि में मैत्रेय कहता है कि "सन्ध्या के इस समय राज्यमार्ग दुराचारियों, गला काटने वालों, खवारियों और वेश्याओं से भरा रहता है" और इसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर चारुदत्त के घर में चोरी का एक अद्भुत वृत्तान्त है और उसमें पहरा देने वाले के पैर का शब्द उस समय सुनाई देता है जिस समय चोर अपना कार्य्य कर चुकता है और माल असबाब लेकर चम्पत हो जाता है (जैसा कि आजकल बहुधा होता है)! उसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि

सड़क लखो सूनी पड़ी घूमत पहरेदार ।
चोर फिरत हैं रात को तुम रहियो हुसियार ॥
(सीताराम)

धनाढ्य लोग बहुत से दास, बड़े ठाट बाट के कमरे और उदार आतिथ्य के साथ सुख पूर्वक रहते थे। मृच्छकटि में हमें एक धनाढ्य के घर का कुछ अत्युक्ति के साथ वर्णन मिलता है जिससे कि हमें साधारणतः धनाढ्यों के घर का कुछ ज्ञान हो जायगा। बाहर का द्वार सुन्दर है, ड्योढ़ी रँगी हुई साफ सुथरी और पानी छिड़की हुई है, फाटक पर फूल और माला लटकी हुई हैं और द्वार ऊँचा मेहराबदार है। पहिले आँगन में प्रवेश करने पर श्वेत इमारतों की पंक्ति देख पड़ती हैं, उनकी दीवारों पर सुन्दर पलस्तर किया हुआ है, सीढ़ियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरों की बनी हुई हैं और उनके

बिल्लौर के किवाड़ों से नगर की गलियों का दृश्य देख पड़ता है। दूसरे आँगन में गाड़ी, बैल, घोड़े और हाथी होते हैं जिन्हें उनके महावत चावल और घी खिलाते हैं। तीसरे आँगन में लोगों के बैठने का कमरा होता है जहाँ पर अतिथियों का स्वागत किया जाता है, चौथे में नाच और गाना होता है और पाँचवें में रसोई घर, छठें आँगन में घर के कार्य्य के लिये शिल्पकार और जौहरी रहते हैं और सातवें में चिड़िया-खाना रहता है। आठवें आँगन में घर का मालिक रहता है। यह सम्भव नहीं है कि बड़े ही धनाढ्य के सिवाय और कोई इतने ठाट बाट से रहे परन्तु इस वृत्तान्त से हमें ठाट से रहने वाले हिन्दू गृहस्थों का कुछ ज्ञान हो जाता है। घर के पीछे एक सुन्दर फुलवारी है जो कि प्राचीन समय में हिन्दू स्त्रियों के मनबहलाव का स्थान थी। शकुन्तला अपने वृक्षों में स्वयं पानी देती थी और यक्ष की स्त्री अपनी फुलवारी में बैठकर अपने अनुपस्थित पति का शोच किया करती थी।

नगर के भीतर इन वृहद् निवासस्थानों के सिवाय धनाढ्य लोगों के नगर से बहुत दूर गाँव में बगीचे होते थे और इन बगीचों का शौक़ इस समय तक भी वर्त्तमान है।

धनाढ्य मनुष्यों की सम्पत्ति में गुलाम सबसे मुख्य समझे जाते थे। भारतवर्ष में प्राचीन समय में अन्य प्राचीन देशों की नाईं गुलाम खरीदे और बेचे जाते थे। और सम्भवतः प्राचीन समय में अधिकांश दास गुलाम ही होते थे। मृच्छकटि में एक हारा हुआ ज्वारी अपना ऋण चुकाने के लिये अपने को बेचने का प्रस्ताव करता है। इससे भी अधिक विलक्षण एक दूसरा वाक्य है जिसमें कि एक दासी का प्रेमी उससे पूछता है कि कितना द्रव्य देने से उसको

स्वामिनी उसे स्वतंत्र कर देगी। हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा में भी कहा है कि इस राजा ने एक ब्राह्मण का ऋण चुकाने के लिये अपने स्त्री पुत्र और स्वयं अपने को बेंच डाला था और इस सम्बन्ध में ऐसी ही अनेक कथाएँ हैं। गुलामी कोमल रूप में भारतवर्ष में बहुत आधुनिक समय तक वर्तमान थी। नगर में सुखी मनुष्यों की साधारण सवारी एक प्रकार की ढकी हुई गाड़ी थी जिसमें बैल जोते जाते थे। मनुष्य और स्त्रियां दोनों ऐसी गाड़ियों में बैठते थे और वसन्तसेना अपने प्रियतम चारुदत्त से नगर के बाहर वाटिका में मिलने के लिये ऐसी ही गाड़ी में बैठ कर गई थी। जो मनुष्य बैल गाड़ी में (इस ग्रन्थकार की नाईं) उज्जैनी की ऊँची नीची पत्थर की गलियों में गया होगा उसे यह विदित होगा कि इस स्त्री की यात्रा उसके सच्चे स्नेह के मार्ग की नाईं बहुत अच्छी नहीं थी। सवारी के लिये घोड़े भी बहुधा काम में लाए जाते थे और कथासरित्सागर के १२४ वें अध्याय से हमें विदित होता है कि ब्राह्मण अपनी स्त्री देवस्वामिनि को उसके पिता के घर से घोड़ी पर सवार करा कर एक दासी के सहित लाया था। घोड़े की गाड़ियां सम्भवतः केवल राजा लोग तथा युद्ध और शिकार में योधा लोग भी काम में लाते थे जैसा कि हम शकुन्तला में देखते हैं।

प्राचीन समय में न्याय करने का एक मात्र और बहुमूल्य वर्णन मृच्छकटि में दिया है। उसमें ब्राह्मण चारुदत्त पर एक दुराचारी लम्पट ने इस नाटक की नायिका वसन्तसेना के मारने का झूठा दोष लगाया है। यह लम्पट अपने को राजा का बहनोई कहता है। राजा लोग प्रीति करने में कुछ बहुत विचार नहीं करते थे और इस प्रकार जिन नीच जाति की स्त्रियों को वे अपने महल में ले लेते थे उनके भाइयों और

सम्बन्धियों को नगर के प्रबन्ध करने में उच्च पद दिए जाते थे। ऐसे लोगों का कालिदास तथा अन्य कवियों ने जो अनेक स्थान पर वर्णन दिया है उनसे हमें विदित होता है कि ये लोग समाज के नाशक बन गए थे, वे भले मानुसों के द्वेषी और छोटे तथा नीच लोगों के दुःख देने वाले थे।

ऐसे ही एक दुष्ट ने जिसका नाम वासुदेव था वसन्तसेना को मारने का जी जान से जतन किया था। उसने पहिले वसन्तसेना की प्रीति के लिये व्यर्थ उद्योग किया था और तब उसने चारुदत्त पर जिसे कि वह चाहती थी उसके मारने का कलंक लगाया। न्यायाधीश सेठ और लेखक (कायस्थ) के साथ न्यायालय में आता है और वासुदेव चारुदत्त पर द्वेष आरोपित करता है। न्यायाधीश उस दिन इस बात पर विचार करने के लिये इच्छुक नहीं है परन्तु वादी का राजा के साथ मेल जान कर इस अभियोग को उठाता है और न्यायालय में उसके ढिठाई के आचरण पर भी तरह दे जाता है। चारुदत्त बुलाया जाता है।

वह सीधा और भला ब्राह्मण न्यायालय में आता है और इसका जो वर्णन किया है वह हमारे बहुतसे पाठकों को मनोरञ्जक होगा और उससे भी प्राचीन समय के न्याय के कुटनों का भी ज्ञान हो जायगा।

व्याकुल चलत दूत शंख और लहर सम,
चिंता में मगन मंत्रि देखौ नीर थीर से।
बकबक करैं बक सरित चतुर लोग,
कायथ निहारें बैठे भुजग नेपीर से।
एक ओर भेदी खड़े नाक औ मगर सम,
हाथी घोड़े द्वार डोलैं हिंसक अधीर से।

टेढ़े मेढ़े नीति से बिगारे सट संग सोहैं,
राजा के विचार भौन नीरधि गंभीर से ॥
[सीताराम]

हमें यहां पर शाक्षी का ब्योरा देने की कोई आवश्यकता नहीं है परन्तु निस्सन्देह प्रमाण चारुदत्त के बहुत विरुद्ध थे। परन्तु फिर भी न्यायाधीश को यह विश्वास नहीं होता कि इस भले मानस ने ऐसा घृणित अपराध किया होगा। वह कहता है कि "चारुदत्त पर कलङ्क लगाना वैसा ही है जैसा कि हिमालय को तोलना, समुद्र की थाह लगाना वा हवा को पकड़ना।" परन्तु यह शाक्षी और भी प्रबल होती है और न्यायाधीश को यह विदित होता है कि कानून के अनुसार उसे चारुदत्त के विरुद्ध निश्चय करना चाहिए परन्तु फिर भी उसे इन सब बातों पर विश्वास नहीं होता। इस प्रसिद्ध पर बलवती उपमा के अनुसार "कानून के नियम स्पष्ट हैं, परन्तु बुद्धि दलदल में पड़ी हुई गाय के समान अंधी हो रही है"।

इसी बीच में चारुदत्त का मित्र न्यायालय में आता है और उसके पास स्त्री के आभूषण पाए जाते हैं जिसके मारने का कलंक लगाया गया है इससे चारुदत्त के भाग्य का निश्चय हो जाता है। न्यायाधीश उसे सत्य बोलने के लिये कहता है और धमकाता भी है और चारुदत्त अपने अपमान से दुखी हो कर, उसके विरुद्ध जो प्रमाण एकत्रित किए गए थे उनसे घबरा कर और अपनी प्रिय वसन्तसेना की मृत्यु का समाचार सुन कर अपना जीना व्यर्थ समझ कर उस हत्या के करने को स्वीकार कर लेता है जिसे कि उसने नहीं किया है जैसा कि बहुतेरे निरपराधियों की दशा हुई है।

न्यायाधीश आज्ञा देता है कि "अपराधी ब्राह्मण है और इस कारण मनु के अनुसार उसे फांसी नहीं दी जा सकती परन्तु वह देश से निकाला जा सकता है पर उसकी संपत्ति नहीं छीनी जायगी।"

परन्तु राजा निष्ठुरता से इस आज्ञा को बदल कर उसे फांसी देने की आज्ञा देता है। कवि राजा की इस निष्ठुर आज्ञा का पाप की भाँति उल्लेख करता है जिसका कि बदला उसे शीघ्र ही मिलता है। उसके राज्य में बड़ा उलट फेर हो जाता है और वह युद्ध में एक जबरदस्त से मारा जाता है और चारुदत्त उसी समय बच जाता है जब कि वह फांसी दिया जाने ही वाला था और उसे उसकी प्रिय वसन्तसेना भी मिलती है जिसे कि निर्दय वासुदेव ने मरा हुआ समझ कर छोड़ दिया था परन्तु वह मरी नहीं थी। कुपित लोग इस अधम अपराधी को जो कि मृत राजा का सम्बन्धी था, मारा चाहते हैं परन्तु उदार चारुदत्त उसके जीव की रक्षा करता है और उसे छोड़ देने को कहता है। लोग उसका कारण पूछते हैं और चारुदत्त उसी सच्चे हिन्दू के सिद्धान्त से उत्तर देता है—

"बैरी जब अपराध करे और पैरों पर पड़ कर सरन मांगे तो उस पर हथियार नहीं उठाना चाहिए।"

——:※:——

अध्याय १६ ।

आधुनिक काल का प्रारम्भ ।

पिछले अध्याय में हमने प्राचीन काल के हिन्दू ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से जो कि छठी और उसके उपरान्त की शताब्दियों में हुए हिन्दुओं की सभ्यता और जीवन का संक्षिप्त वृत्तान्त देने का उद्योग किया। परन्तु दूसरे लोग हमें जिस दृष्टि से देखें उस दृष्टि से हमें स्वयं अपने को देखना सदा लाभदायक होता है और इस कारण हम इस अध्याय में आधुनिक समय के प्रारम्भ की हिन्दू सभ्यता का वृत्तान्त उन सामग्रियों से देंगे जो कि हमें एक शिक्षित और उदार विदेशी एलबेरुनी से मिलती हैं जो कि ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है।

भारतवर्ष के विषय में एलबेरुनी के ग्रन्थ का मूल्य बहुत समय से विद्वानों को विदित है परन्तु उसके ग्रन्थ के पाण्डित्य पूर्ण संस्करण और अनुवाद का अब तक अभाव था। डाक्टर एडवर्ड सी सैक् ने अब इस अभाव को पूरा किया और पूरब देश सम्बन्धी खोज और भारतवर्ष के इतिहास के लिये एक बड़ा उपयोगी कार्य्य किया है।

एलबेरुनी वा जैसा कि उसके देश के लोग उसे पुकारते हैं अबूरैहन का जन्म आजकल के ख़ीवा में सन् ९७३ ई० में हुआ था। जब महमूद गजनवी ने ख़ीवा को सन् १०१७ ई० में जीता तो वह प्रसिद्ध विद्वान को युद्ध के बंधुए की भांति गजनी ले गया। सम्भवतः इसी घटना के कारण वह हिन्दुओं को उस सहानुभूति की दृष्टि से देखने लगा जो कि महमूद के विजय और अत्याचार सहने वाले साथियों के योग्य है और जब कि उसने हिन्दू सभ्यता और साहित्य में जिन

बातों को दुखित समझा है उन्हें दिखलाने में कभी आगा पीछा नहीं किया तथापि उसने उस सभ्यता और साहित्य का उस उदार हृदय से अध्ययन करने का कष्ट उठाया है जो कि पीछे के समय के मुसलमानों में नहीं पाई जाती और जो बात प्रशंसा करने योग है उसमें वह प्रशंसा करने में कभी नहीं चूका।

भारतवर्ष में महमूद के नाश करने के असावधान कार्यों के विषय में एलबेरुनी उचित निन्दा के साथ लिखता है। वह कहता है कि "महमूद ने देश की भाग्यशालिनी दशा का पूर्णतया नाश कर दिया और उसने वे अद्भुत साहस के कार्य्य किए जिनसे कि हिन्दू लोग धूल के कण की नाईं तथा लोगों के मुह में पुरानी कहानी की नाईं चारों दिशाओं में छितर बितर हो गए। इस प्रकार छितर बितर हुए लोगों में निस्संदेह मुसलमानों से बड़ी कठोर घृणा हुई। और यही कारण है कि जिन देशों को हम लोगों ने विजय किया है वहां से हिन्दू शास्त्र दूर हटा दिए गए हैं और उन शास्त्रों ने ऐसे स्थानों में आश्रय लिया है जहां कि हम लोगों का हाथ नहीं पहुंच सकता यथा काश्मीर बनारस और अन्य स्थानों में। (अध्याय १)

हिन्दुओं के विषय में एलबेरुनी को जो सबसे अनुचित बात जान पड़ी वह उन लोगों का संसार की अन्य जातियों से पूर्णतया जुदा रहना था। वे लोग बाहरी संसार को नहीं जानते थे और अन्य जातियों को म्लेच्छ कह कर उन से सहानुभूति और सरोकार नहीं रखते थे। एलबेरुनी कहता है कि "वे जिन बातों को जानते हैं उन्हें दूसरो को बतलाने में स्वभाव से ही कृपण हैं और वे अपने ही में किसी दूसरी जाति के मनुष्यों को उन बातों को न बतलाने

में बड़ी ही सावधानी रखते हैं, फिर विदेशियों को उन्हें बतलाने के विषय में तो कहना ही क्या है। उनके विश्वास के साथ संसार में उनके देश के सिवाय और कोई देश ही नहीं है, और उनके सिवाय और कोई दानी ही नहीं है, और उनके सिवाय और कोई मनुष्य ही नहीं है, जो कि विज्ञान को कुछ भी जानता हो। उनका घमण्ड यहां तक है कि यदि तुम उनसे खुरासान और फारस के किसी शास्त्र वा किसी विद्वान का वर्णन करो तो वे तुम्हें मूर्ख और झूठा समझेंगे। यदि वे भ्रमण करें और अन्य देश के लोगों से मिलें तो उनकी यह सम्मति शीघ्र ही बदल जायगी क्योंकि उनके पूर्वज लोग ऐसे नहीं थे जैसे ये आज कल हैं।" (अध्याय १)

राजनैतिक बातों में भी अलबरूनी के समय में भारतवर्ष के पतन के अन्तिम दिन थे। वह बृहद् देश जो कि छठीं शताब्दी में प्रतापी विक्रमादित्य के अधीन था अब छोटे छोटे राजाओं में बंट गया था जो कि एक दूसरे से स्वतंत्र थे और बहुधा परस्पर युद्ध किया करते थे। काश्मीर स्वतंत्र था और वह अपने पर्वतों के कारण रक्षित था। महमूद ग़ज़नवी ने उसे जीतने का उद्योग किया परन्तु वह कृतकार्य नहीं हुआ। और वीर अनङ्गपाल ने जिसने कि महमूद को रोकने का व्यर्थ उद्योग किया था एक बार भाग कर काश्मीर में शरण ली थी। सिन्ध अनेक छोटे छोटे राज्यों में बंट गया था जिसमें कि मुसल्मान सर्दार लोग राज्य करते थे। गुजरात में महमूद ने सोमनाथ वा पट्टन पर जो आक्रमण किया था उसका कोई स्थायी फल नहीं हुआ। इस देश में महमूद के पहिले जिन राजपूतों ने चौलुक्यों से राज्य छीन लिया था वे सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण के

पीछे राज्य करते रहे। मालवा में एक दूसरे राजपूत वंश का राज्य था और भोजदेव जिसने कि आधी शताब्दी तक अर्थात् सन् ९९७ से सन् १०५३ ई० तक राज्य किया विद्या का एक बड़ा संरक्षक था और उसकी राजधानी धार में प्रतापी विक्रमादित्य के राज्य का सा समय जान पड़ता था।

उस समय कन्नौज बंगाल के पालवंशी राजाओं के अधीन कहा जाता है, और वे प्रायः मुंगेर में रहते थे। कन्नौज के राज्यपाल को महमूद ने सन् १०१७ में लूटा था और इस कारण धारी में एक नई राजधानी स्थापित हुई और महिपाल जिसने कि लगभग १०२६ ई० में राज्य किया था वहाँ रहता था। ये दोनों राजा, बंगाल के सब पाल वंशी राजाओं की नाईं बौद्ध कहे गए हैं, परन्तु एलबेरुनी के समय में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म जातीय धर्म्म नहीं रह गया था।

कन्नौज के चारों ओर का देश मध्य देश कहलाता था क्योंकि वह भारतवर्ष का केन्द्र था और यह केन्द्र, जैसा कि एलबेरुनी कहता है "भूगोल की दृष्टि से" था और "यह राजनैतिक केन्द्र भी था क्योंकि अगले समय में वह उनके सब से प्रसिद्ध वीरों और राजाओं का निवास स्थान था"। (अध्याय १८)

एलबेरुनी ने कन्नौज से कई मुख्य स्थानों की दूरी लिखी है जो कि आज कल भी मुख्य नगर हैं। वह मथुरा का जोकि "वासुदेव के कारण प्रसिद्ध है", प्रयाग वा इलाहाबाद का "जहां कि हिन्दू लोग अपने को अनेक प्रकार की तपस्याओं से पीड़ित करते हैं, जिनका वर्णन उनकी धर्म्म सम्बन्धी पुस्तकों में है", "प्रसिद्ध वाराणी" वा बनारस का, पाटलिपुत्र, मुंगेर और गंगासागर अर्थात् गंगा के मुहाने का उल्लेख

करता है। वह दक्षिण में धार और उज्जैनी का, उत्तर-पश्चिम में काश्मीर, मुल्तान और लाहौर का भी वर्णन करता है और मध्य भारतवर्ष से दूर वह राम के कल्पित सेतु का, लंका के तटों का जहां मोती पाए जाते हैं तथा मालद्वीप और लक्षद्वीप का भी उल्लेख करता है।

(अध्याय १८)

अब देश के वृत्तान्त को छोड़ कर हम देश वासियों का वर्णन करेंगे। एलबेरुनी ने जाति भेद के विषय की कुछ संक्षिप्त आलोचना की है, जिससे कि हमें विदित होता है कि वैश्य लोग अर्थात् आर्य्य लोग की सब से वृहद जाति का शीघ्रता से शूद्र जातियों में पतन होता जाता था। एक स्थान में वह लिखा है कि वैश्यों और शूद्रों में "बहुत भेद नहीं है"। (अध्याय ९) एक दूसरे स्थान पर हमें यह भी विदित होता है कि वैश्यों के धर्म्म सम्बन्धी विद्या पाने का प्राचीन अधिकार छीन लिया गया था, ब्राह्मण लोग क्षत्रियों को वेद पढ़ाते थे परन्तु "वैश्य और शूद्र उसे सुन भी नहीं सकते थे उसका उच्चारण करना वा पाठ करना तो दूर रहा"। (अध्याय १२) फिर एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि जिन कार्यों के अधिकारी ब्राह्मण हैं यथा पाठ करना, वेद पढ़ना और अग्नि में हवन करना वह वैश्यों और शूद्रों के लिये यहां तक वर्जित है कि उदाहरण के लिये जब किसी शूद्र वा वैश्य का वेद पाठ करना प्रमाणित होजाय और ब्राह्मण लोग राजा के सम्मुख उस पर दोष आरोपण करें तो राजा उस अपराधी की जीभ काट लेने की आज्ञा देगा। (अध्याय ६४)

यदि पाठक लोग वैश्यों के इस वर्णन को मनु में लिखी हुई स्थिति से मिलान करें तो उन्हें जाति के धीरे धीरे पतन

होने और ब्राह्मणों के प्रभुत्व बढ़ाने का पूरा इतिहास विदित हो जायगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों के धार्म्मिक और राजनैतिक उलट फेर के उपरान्त उन वैश्य सन्तानों की, जिनको कि वेद पढ़ने और हवन करने में ब्राह्मणों के समान अधिकार था, अब शूद्रों में गणना होने लगी और वे धार्म्मिक ज्ञान पाने के अयोग्य समझे जाने लगे? क्षत्रियों ने अब भी अपनी स्थिति उस समय तक बना रक्खी थी जब तक कि भारतवर्ष स्वतंत्र देश था पर १२ वीं शताब्दी के पीछे उन लोगों ने भी अपनी कीर्ति और स्वतंत्रता खो दी। और तब इस साहसी कथा की कल्पना की गई कि क्षत्रिय जाति का भी वैश्यों की नांई अब लोप हो गया और ब्राह्मणों के सिवाय और सब शूद्र होगए और उन सभों को समान रीति से वेद पढ़ने वा हवन करने का अधिकार नहीं रहा। क्या हमारे पाठक क्षत्रियों और वैश्यों के लोप होने की इस कथा के आगे बढ़ा चाहते हैं और यह जानना चाहते हैं कि उनकी सन्तान की वास्तव में क्या क्या अवस्था हुई? वे उन्हें नए नए नामों (कायस्थ, वैद्य, वणिक, स्वर्णकार, कर्मकार इत्यादि) नई जातियों की भांति पावेंगे जो कि मनु और याज्ञवल्क्य के समय में नहीं थीं। और इन नई जातियों को जो कि क्षत्रियों और वैश्यों से बनी हैं उन मिश्रित जातियों की बढ़ती हुई सूची में स्थान दिया गया जिसे कि मनु ने निषादों और चाण्डालों की नांई कार्य्य आदिम निवासियों के लिये रक्षित रक्खा था। परन्तु आज कल की शिक्षा ने धीरे धीरे लोगों की आंखें खोल दी हैं और बृहद् हिन्दू जाति जैसे जैसे अपने जातीय और राजनैतिक जीवन पर ध्यान देती जाती है वैसे वैसे अपने प्राचीन धार्म्मिक और सामाजिक अधिकारों का दावा करना सीख रही है।

अल बेरुनी ने शूद्रों के नीचे आठ अन्त्यज जातियां लिखी हैं अर्थात् धोबी, चमार, नट, टोरी और ढाल बनाने वाले, केवट, मछुआहा, बहेलिया, और तांती। हांड़ी डोम और चाण्डाल सब जातियों से बाहर समझे जाते थे। (अ० ९)

अब जाति के विषय को छोड़ कर लोगों की रीति और चाल व्यवहार का वर्णन करेंगे परन्तु इसमें भी हम हिन्दुओं को उनकी अवनत दशा में पाते हैं। यह कहा गया है कि "हिन्दू लोग बहुत छोटी अवस्था में विवाह करते हैं" और "यदि किसी स्त्री का पति मर जाय तो वह दूसरे मनुष्य से विवाह नहीं कर सकती। उसके लिये केवल दो बातें रह जाती हैं, अर्थात् या तो वह अपना सारा जीवन विधवा की नाईं व्यतीत करे अथवा जल मरे और इस कारण जल मरना ही उत्तम समझा जाता है क्योंकि विधवा रहने के कारण वह जब तक जीवित रहती है तब तक उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है।" (अध्याय ६९)

हम देख चुके हैं कि पौराणिक काल में बाल विवाह की रीति प्रचलित नहीं थी और इस कारण यह स्पष्ट है कि यह रीति आधुनिक काल के आरम्भ में हिन्दुओं में प्रचलित हुई। और यही दशा सती की रीति की भी है।

विवाह की रीतों के विषय में यह कहा गया है कि माता पिता अपने बालकों के लिए विवाह का प्रबन्ध कर लेते थे, उसमें कोई दहेज निश्चित किया जाता था परन्तु पति को पहिले कुछ देना पड़ता था जो कि सदा के लिये स्त्री की सम्पत्ति (स्त्रीधन) होता था। पांच पीढ़ी के भीतर के सम्बन्धियों में विवाह वर्जित था। प्राचीन नियम के अनुसार किसी जाति का मनुष्य अपनी जाति वा अपने से नीच जाति

की स्त्री से विवाह कर सकता था परन्तु यह रीति अब उठ गई थी। जाति भेद अब अधिक कठिन हो गया था और "हमारे समय में ब्राह्मण लोग अपनी जाति के सिवाय और किसी जाति की स्त्री से कभी विवाह नहीं करते यद्यपि उनको ऐसा करने का अधिकार है।" (अध्याय ६६)।

एलबेरूनी ने ११ वीं शताब्दी के हिन्दुओं के त्योहारों का जो वर्णन लिखा है वह आज कल के हिन्दू त्योहारों के असदृश नहीं है। वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता था और एकादशी को हिंडोली चैत्र (आज कल का डोल) होता था जिसमें कृष्ण की मूर्ति पालने में झुलाई जाती थी। पूर्णिमा को वसन्तोत्सव (आज कल की होली का त्यौहार) होता था जो कि विशेषतः स्त्रियों के लिये था। हम इस उत्सव का कुछ वर्णन पौराणिक काल के नाटकों में देख चुके हैं। रत्नावली और मालती माधव दोनों ही इस उत्सव के वृत्तान्त से आरम्भ होते हैं जिसमें कि कामदेव की पूजा होती थी परन्तु आधुनिक समय में प्राचीन कामदेव का स्थान कृष्ण ने ले लिया है और आजकल का होली का उत्सव उसी प्राचीन देवता को प्रगट करता है।

वैशाख में तीसरे दिन गौरी तृतीया होती थी जिसमें स्त्रियाँ स्नान करती थीं, गौरी की मूर्ति की पूजा करती थीं और उनको धूप दीप चढ़ाती थीं तथा व्रत रहती थीं। दसमीं से लेकर पूर्णिमा तक खेत जोतने और वर्ष की खेती प्रारम्भ करने के पहिले यज्ञ किए जाते थे। इसके पीछे सायन मेष होता था जिसमें कि उत्सव मनाया जाता और ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

भारतवर्ष में ज्येष्ठ का महीना ही फल उत्पन्न होने का महीना है और इसमें प्रदिपदा को वर्ष के नवीन फल शगुन

के लिये जल में छोड़े जाते थे। पूर्णिमा के दिन स्त्रियों का एक त्योहार होता था जो कि रूपपंच कहलाता था।

आषाढ़ में पूर्णिमा के दिन पुनः ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

आश्वयुज के महीने में ऊख काटी जाती थी और महानवमी के त्योहार में ऊख के नवीन फल भगवती की मूर्ति को चढ़ाये जाते थे। मास के पन्द्रहवें सोलहवें और तेईसवें दिन अन्य त्योहार होते थे जिनमें बहुत खेल कूद होते थे।

भाद्रपद के महीने में बहुत ही अधिक त्योहार होते थे। मास के पहले दिन पितरों के लिये दान दिए जाते थे। तीसरे दिन स्त्रियों का त्योहार होता था। छठें दिन बन्दियों को भोजन बाँटा जाता था। आठवें दिन ध्रुवगृह का त्योहार होता था जिसे गर्भवती स्त्रियां आरोग्य बालक पाने के लिये करती थीं। ग्यारहवें दिन पार्वती का त्योहार होता था जिसमें पुजेरी को डोरा दिया जाता था। और पूर्णिमा के उपरान्त पूरे पक्ष भर में नित्य त्योहार होते थे। ग्यारहवीं शताब्दी के इन त्योहारों का स्थान अब अधिक धूम धाम की पूजाओं ने यथा दुर्गा तथा अन्य देवी और देवताओं की पूजा ने ले लिया है।

कार्तिक में पहिले दिन दीवाली का त्योहार होता था। इसमें बहुत से दीपक जलाये जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि वर्ष में उसी एक दिन लक्ष्मी देवी वीरोचन के पुत्र बलि को छोड़ देती थी। यह दीवाली के उत्सव का प्राचीन रूप था जिसके साथ कि काली की पूजा का सम्बन्ध अब किया गया है, जिस भांति की कामदेव के प्राचीन उत्सव के साथ अब कृष्ण की पूजा का सम्बन्ध किया गया है।

मार्गशीर्ष (अग्रहायण) मास के तीसरे दिन गौरी के सम्मानार्थ स्त्रियों को भोजन कराया जाता था। और पूर्णिमा को स्त्रियों को फिर भोजन कराया जाता था।

आज कल की नाई उन दिनों में भी पुष्य के त्योहार पर अनेक प्रकार के मिष्टान्न बनते थे। हम देख चुके हैं कि जाड़े की खुशी मनाने की यह बड़ी उत्तम रीति सन् ईस्वी के पहिले से विदित थी।

माघ मास में तीसरे दिन गौरी के सम्मानार्थ स्त्रियों को भोजन कराया जाता था इस मास में और भी त्योहार होते थे।

फाल्गुण मास के आठवें दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और पूर्णिमा को डोल होता था। उसके अगले दिन की रात्रि शिवरात्रि होती थी (अध्याय ७५)।

ऊपर दिए हुए त्योहारों के वर्णन से सर्व साधारण को धर्म्म और धर्म्माचरण का कुछ ज्ञान हो जायगा। सारे भारतवर्ष में मूर्तियां और मन्दिर बहुतायत से फैले हुए थे जहां कि असंख्य यात्री और भक्त लोग जाया करते थे। एलबेरुनी निम्नलिखित मन्दिरों का उल्लेख करता है अर्थात् मुल्तान में आदित्य वा सूर्य्य का मन्दिर और थानेश्वर में चक्रस्वामी वा विष्णु का मन्दिर, काश्मीर में सारद की काठ की मूर्ति और प्रसिद्ध सोमनाथ की मूर्ति जो कि शिव लिंग थी और जिसे महमूद गज़नवी ने नष्ट किया था। (अध्याय ११) सोमनाथ के मन्दिर के विषय में एलबेरुनी कहता है कि महमूद उसके ऊपरी भाग को छोड़ करके शेष सब मय स्वर्ण और रत्न के आभूषण और कारचोपी के वस्त्रों सहित गजनी को ले गया। उसका कुछ अंश नगर के तमाशे घर में रक्खा गया और कुछ अंश गजनी की मसजिद के द्वार

पर जिसमें लोग उस पर अपने पैर पोंछ कर साफ करें। यह दशा उस मूर्ति की हुई जिसे कि नित्य गंगा जल और काश्मीर के पुष्प चढ़ाए जाते थे! सोमनाथ लिंग के बड़े माहात्म्य का कारण यह था कि स्वयं यह नगर समुद्री वाणिज्य का केन्द्र और समुद्र के यात्रियों के लिये बन्दरगाह था। (अध्याय ५८)

बनारस भारतवर्ष में सबसे अधिक पवित्र स्थान हो गया था और लोग इस पवित्र नगर में अपनी वृद्धावस्था के दिन व्यतीत करने के लिये जाया करते थे। पुष्कर, थानेश्वर, मथुरा, काश्मीर, और मुलतान की पवित्र झीलों का भी उल्लेख किया गया है और निस्सन्देह यहां यात्रियों की बड़ी भीड़ एकत्रित होती थी। (अध्याय ६६) हमारे ग्रन्थकार ने पवित्र स्थानों में लम्बी चौड़ी सीढ़ियों वाले बड़े बड़े तालाबों को खोदवाने की हिन्दुओं की रीति की बड़ी प्रशंसा की है। "प्रत्येक पुण्यक्षेत्र में हिन्दू लोग स्नान के लिये तालाब बनवाते हैं। इस के बनाने में उन्होंने बड़ी ही निपुणता प्राप्त करली है यहां तक कि जब हमारी जाति के लोग (मुसल्मान) उन्हें देखते हैं तो उनको आश्चर्य होता है और वे उनका वर्णन करने में भी असमर्थ होते हैं, उनके सदृश तालाब बनवाना तो दूर रहा। वे उन्हें बड़े भारी भारी पत्थरों से बनाते हैं जो कि एक दूसरे से नोकीले और दृढ़ लोहे के हुक से जोड़े जाते हैं और वे चट्टानों के चबूतरों की नांई देख पड़ते हैं और ये चबूतरे तालाब के चारों ओर होते हैं और एक पोरसे से अधिक ऊँचे होते हैं।" (अध्याय ६६)।

हिन्दू लोग असंख्य देवी और देवताओं की पूजा करते थे उनमें सबसे बड़े तीन मुख्य देवताओं अर्थात् सृष्टि करने

वाले ब्रह्मा, पोषण करने वाले विष्णु, और संहार करने वाले महादेव को जानने में कोई कठिनता न हुई। एलबेरुनी यह भी कहता है कि ये तीनों देवता मिलकर एक समझे जाते हैं और इस बात में "हिन्दुओं और इसाइयों में समानता है क्योंकि ईसाई लोग भी तीन रूपों को अर्थात् पिता पुत्र और पवित्र आत्मा को मानते हैं परन्तु उन तीनों को एक ही समझते हैं।" (अध्याय ८)

एलबेरुनी ने हिन्दू धर्म्म और व्यवस्थाओं का ध्यान पूर्वक अध्ययन किया था यह बात इसीसे विदित हो जायगी कि साधारण लोग जो असंख्य हिन्दू देवताओं की पूजा करते थे उसके परे, उपरोक्त त्रिमूर्ति के भी परे, हमारे ग्रन्थकार ने पवित्र और दार्शनिक हिन्दू धर्म्मके सच्चे सिद्धान्त अर्थात् उपनिषदों के अद्वैतवाद को भली भांति समझ लिया था। वह हमें बार बार कहता है कि सब असंख्य देवता केवल साधारण लोगों के लिये हैं, शिक्षित हिन्दू लोग केवल ईश्वर में विश्वास करते हैं जो कि "एक, नित्य, अनादि, अनन्त, स्वेच्छाचारी, सर्वशक्तिमान्, सर्वबुद्धिनिधान, जीवित, जीव देने वाला, ईश्वर और पोषक" है।

"वे ईश्वर के अस्तित्व को वास्तविक अस्तित्व समझते हैं क्योंकि जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह उसी के द्वारा है।"　　　　(अध्याय २)

यह शुद्ध, शान्ति और जीवन देने वाला धर्म्म है, उसमें प्राचीन उपनिषदों का सच्चा सारांश है जो कि मनुष्यों के बनाए हुए ग्रन्थों में सब से उत्तम है। इतिहासकार को केवल इतना ही दुःख है कि उत्तम धर्म्म केवल कुछ शिक्षित लोगों ही के लिये था और साधारण लोग मूर्त्तियों और

मन्दिरों तथा निरर्थक विधानों और हानिकारक रुकावटों में पड़े हुए थे। जिस देश में एक प्राचीन और जीवनशक्ति देनेवाले धर्म्म की अमृतमय धारा नित्य बहा करती थी वहां के लोगों को विष क्यों पिलाया जाने लगा?

एक दूसरे स्थान पर एलबेरुनी हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त का तथा इस जीवन में किए हुए कर्मों के फलों को दूसरे जन्म में पाने का और सच्चे ज्ञान के द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन करता है। उस समय आत्मा प्रकृति से जुदा हो जाती है। इन दोनों को जोड़ने वाले बंधन टूट जाते हैं और दोनों का संसर्ग अलग हो जाता है। बिछोह और विच्छेद हो जाता है और आत्मा अपने भुवन को चली जाती है, और अपने साथ में ज्ञान के आनन्द को उसी प्रकार ले जाती है, जैसे तिल से दाने और फूल दोनों होते हैं पर वह अपने तेल से अलग नहीं हो सकता। ज्ञानवान जीव, ज्ञान और उसका आधार तीनों मिल कर एक हो जाते हैं। (अध्याय ५.)

कानून के प्रबन्ध के विषय का कुछ मनोरञ्जक वर्णन दिया हुआ है। साधारणतः अर्जी लिख कर दी जाती थी जिसमें कि प्रतिवादी के विरुद्ध दावा लिखा रहता था। जहां ऐसी लिखी हुई अर्जियाँ नहीं दी जाती थीं वहां जबानी दावा सुना जाता था। शपथ कई प्रकार की होती थी जिनमें भिन्न भिन्न प्रथा की गम्भीरता होती थी और मुकद्मों का निर्णय शाक्षियों के प्रमाण पर किया जाता था। (अध्याय ७०)

सब विदेशियों ने भारतवर्ष के फौजदारी के कानून के अत्यन्त कोमल होने के विषय में लिखा है और एलबेरुनी उसकी समानता ईसाइयों के कोमल कानून से करता है, और उनके विषय में कुछ बुद्धिमानी के वाक्य लिखता है जो कि यहां उद्धृत किए जाने योग्य हैं। "इस विषय में हिन्दुओं

की रीति और आचरण ईसाइयों के सदृश है क्योंकि ईसाइयों की नाईं वे पुण्य के तथा कुकर्म्म के न करने के सिद्धान्तों पर रक्खे गए हैं, यथा किसी भी अवस्था में हिंसा न करना, जो तुम्हारा कोट छीन ले उसे अपना कुर्ता भी दे देना, जिसने तुम्हारे एक गाल में तमाचा मारा है उसके सामने दूसरा गाल भी कर देना, अपने शत्रु को आशीर्वाद देना और उसकी भलाई के लिये प्रार्थना करना। मैं अपने जीव की शपथ खा कर कहता हूं कि यह बड़ा ही उत्तम सिद्धान्त है परन्तु इस संसार के सब लोग दर्शन शास्त्रज्ञ नहीं हैं, उनमें से अधिकांश लोग मूर्ख और भूल करने वाले हैं और वे बिना तलवार और चाबुक के ठीक मार्ग में नहीं चलाए जा सकते। और निस्सन्देह जब से विजयी कोन्स्टेनटाइन ईसाई हुआ तब से तलवार और चाबुक दोनों ही काम में लाए गए हैं क्योंकि उनके बिना राज्य करना असम्भव है।" (अध्याय ७१)

जो ब्राह्मण किसी दूसरी जाति के मनुष्य को मार डाले उसके लिये दण्ड केवल प्रायश्चित का था जिसमें निराहार रहना पड़ता था तथा पूजा और दान करने पड़ते थे परन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मण को मार डाले तो वह देश से निकाल दिया जाता था और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी। परन्तु ब्राह्मण को किसी अवस्था में भी प्राण दण्ड नहीं दिया जाता था। चोरी के लिये चुराई हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार दण्ड दिया जाता था। भारी अवस्थाओं में ब्राह्मण वा क्षत्रिय चोर को उसके हाथ वा पैर काट लेने का दण्ड दिया जा सकता था और नीच जाति के चोर को प्राण दण्ड दिया जा सकता था। जो स्त्री व्यभिचार करे वह अपने पति के घर से निकाल दी जाती थी और देश से भी निकाल दी जाती थी। (अध्याय ७१)

पिता की सन्तान उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी और पुत्री को पुत्र के हिस्से का चौथा भाग मिलता था। विधवा सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं होती थी परन्तु वह जब तक जीवित रहे तब तक उसे भोजन और वस्त्र पाने का अधिकार था। भाइयों की भांई दूर के उत्तराधिकारियों की अपेक्षा निकटस्थ उत्तराधिकारी तथा पौत्र इत्यादि सम्पत्ति पाते थे और मृतक का ऋण उसके उत्तराधिकारी को देना पड़ता था। (अ० ७२)

कर लगाए जाने के विषय में भी ब्राह्मणों को वही सुबीता प्राप्त था जो कि दण्ड पाने के विषय में। भूमि में जो उत्पन्न हो उसका छठां भाग राजा का कर होता था और मजदूरे, शिल्पकार और व्यापार करने वाले भी अपनी आय के अनुसार कर देते थे। केवल ब्राह्मणों ही को कर नहीं देना पड़ता था। (अध्याय ६७)

हिन्दू साहित्य के विषय में एलबेरुनी वेद से आरम्भ करता है, वह कहता है कि वेद जबानी सिखलाए जाते थे क्योंकि उनका पाठ आवाज के अनुसार होता था जिन्हें कि लिखने से भूल हो जाने की सम्भावना थी। वह इस कथा का वर्णन करता है कि व्यास ने वेदों के चार भाग किए अर्थात् ऋक्, यजुस, सामन, और अथर्वण और इनमें से प्रत्येक भाग उसने अपने चारों शिष्यों अर्थात पैल, वैशंपायन, जैमिनी, और सुमन्तु में से प्रत्येक को सिखलाया। वह उन अट्ठारहों पर्व्व का नाम देता है जिनमें कि महाभारत अपने आधुनिक रूप में बँटा है और वह उसके अवशिष्ट हरिवंश का भी वर्णन करता है और रामायण की कुछ कथाओं का उल्लेख करता है। वह पाणिनि इत्यादि आठ वैयाकरणों

के नाम लिखता है, और संस्कृत छन्द का भी कुछ वर्णन करता है। उसने सांख्य तथा अन्य दर्शन शास्त्रों के विषय में भी लिखा है, यद्यपि उसमें जो बातें लिखी हैं वे सदा इन मूल ग्रन्थों से नहीं है। बुद्ध और बौद्ध धर्म के विषय में इसका वृत्तान्त बहुत ही थोड़ा, अनिश्चित और अशुद्ध है। वह स्मृति पर मनु याज्ञवल्क्य इत्यादि के बीस ग्रन्थों के विषय में लिखता है, उसने अट्ठारहों पुराणों की दो भिन्न भिन्न सूचियां दी हैं और उसकी दूसरी सूची आज कल के अट्ठारहों पुराण से पूर्णतया मिलती है। यह हिन्दू साहित्य अध्ययन करने वालो के लिये एक आवश्यक बात है और उससे विदित होता है कि ये अट्ठारहों पुराण ईसा की ११ वीं शताब्दी के पहिले बन गए थे, यद्यपि इसके उपरान्त उनमें परिवर्तन किए गए हैं और अनेक बातें बढ़ाई गई हैं। परन्तु एलबेरुनी के ग्रन्थ में तन्त्र साहित्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। एलबेरुनी स्वयं एक निपुण गणितज्ञ था और उसने हमें हिन्दू ज्योतिषियों अर्थात् आर्यभट्ट, बाराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त का तथा उन पांचों ज्योतिष के सिद्धान्तों (सूर्य्य, बशिष्ठ, पुलिश, रोमक और ब्रह्मा) का जिन्हें कि बाराहमिहिर ने संक्षिप्त रूप में बनाया था बहुत लम्बा चौड़ा वर्णन किया है। एलबेरुनी विशेषतः बाराहमिहिर की प्रशंसा करता है और कहता है कि यह ज्योतिषी उसके ५२६ वर्ष पहिले अर्थात् लगभग ५०५ ई० में हुआ है।

एलबेरुनी ने इन हिन्दू ज्योतिषियों का जो लम्बा चौड़ा और पाण्डित्य पूर्ण वृत्तान्त दिया है उसका ब्योरेवार वर्णन करना हमारे लिये आवश्यक नहीं है। उसकी आलोचनाएँ कहीं कहीं पर अशुद्ध हैं परन्तु सब बातों पर विचार करके उसने जिन प्रणालियों का वर्णन किया है उन्हें सच्चाई से

समझाने का उद्योग किया है। उसने १२ आदित्यों के अर्थात् वर्ष के १२ मास के सूर्य के नामों को लिखा है अर्थात् चैत्र में विष्णु, वैशाख में अर्यमन, ज्येष्ठ में विवस्वत, आषाढ़ में अंश, श्रावण में परजन्य, भाद्र में वरुण, अश्वयुज (आश्विन) में इन्द्र, कार्तिक में धातृ, मार्गशीर्ष (अग्रहायन) में मित्र, पौष्य में पूषण, माघ में भग और फाल्गुन में त्वष्टि। वह ठीक कहता है कि हिन्दुओं के मास का नाम नक्षत्रों के नाम से पड़ा है अर्थात् आश्विन अश्विनी से, कार्तिक कृत्तिका से, मार्गशीर्ष मृगशिरा से, पौष पुष्य से, माघ मघा से, फाल्गुण पूर्वा-फाल्गुणी से, चैत्र चित्रा से, वैशाख विशाखा से, ज्येष्ठ ज्येष्ठा से, आषाढ़ पूर्वाषाढ़ से, श्रावण श्रवण से और भाद्र पूर्वभाद्र-पदा से। वह बारहों राशि के नाम भी देता है जिसे कि हिन्दुओं ने यूनानियों से उद्धृत किया था और जिसे यूनानियों ने भी एसीरियन लोगों से उद्धृत किया था। और वह हिन्दुओं के ग्रहों के अर्थात् मङ्गल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र और शनिश्चर के भी नाम देता है। (अध्याय १९)।

इसके सिवाय हिन्दू विद्यार्थियों के लिए यह उपयोगी बात है कि एलबेरुनी कहता है कि हिन्दू ज्योतिषियों को आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का कुछ ज्ञान था। एलबेरुनी लिखता है कि ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि "सब भारी वस्तुएँ प्रकृति के एक नियम के अनुसार पृथ्वी पर गिरती हैं क्योंकि वस्तुओं को आकर्षित करके रखना पृथ्वी का स्वाभाविक गुण है जैसे कि जल का बहना, अग्नि का जलना और वायु का चलना स्वाभाविक गुण हैं। वाराहमिहिर कहता है कि पृथ्वी पर जो वस्तुएँ हैं उन सब को पृथ्वी आकर्षित करती है" (अध्याय २६)। एलबेरुनी आर्यभट्ट के इस सिद्धान्त का भी उल्लेख करता है जिसके विषय में हम कह चुके हैं कि पृथ्वी अपनी धुरी पर

घूमती है और आकाश नहीं घूमता जैसा कि हमें देख पड़ता है। (अध्याय २६) पृथ्वी का गोल होना भी हिन्दू ज्योतिषियों को विदित था और पृथ्वी की परिधि ४८०० योजन कही गई है। (अध्याय ३१)।

एलबेरुनी हेम अयनभाग के विषय में भी लिखता है और वाराहमिहर के वाक्य उद्धृत करता है कि पहिले के समय में (ऐतिहासिक काव्य काल में जब कि वेद सङ्कलित किए गए थे जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं) दक्षिणायन अश्लेषा के मध्य में होता था और उत्तरायण धनिष्ठा में परन्तु अब (वराहमिहर के समय में) दक्षिणायन कर्क में होता है और उत्तरायण मकर में। (अध्याय ५६) इसके सिवाय एलबेरुनी नक्षत्रों के सूर्य्य के साथ अस्त और उदय होने के विषय में भी लिखता है और यह बतलाता है कि अगस्त नक्षत्र के सूर्य्य के साथ उदय और अस्त होने की ज्योतिष सम्बन्धी बात से किस प्रकार अगस्त्य ऋषि के विन्ध्या पर्वत को यह आज्ञा देने की कल्पित कथा की उत्पत्ति हुई कि जब तक वे न लौटें तब तक वह ज्यों का त्यों रहे। इन विषयों का तथा अनेक अन्य मनोरञ्जक विषयों का जो उल्लेख किया गया है उनका हम ब्योरेवार वर्णन नहीं दे सकते।

भारतवर्ष का भूगोल हिन्दुओं को ईसा के उपरान्त और पहिले भली भांति विदित था। बौद्ध धर्म्म ग्रन्थों तथा कालिदास के काव्य और वाराहमिहर के ज्योतिष में जो वर्णन मिलता है उससे यह बात प्रगट होती है। परन्तु फिर भी हमें कट्टर हिन्दू ग्रन्थों में पृथ्वी का आकार, उसके सात एककेन्द्रक समुद्रों और सात एककेन्द्रक द्वीपों के साथ

दिया है । सब के बीच में जम्बुद्वीप है, उसके चारों ओर खारा समुद्र है, उसके चारों ओर शाकद्वीप है, उसके चारों ओर क्षीर सागर है, उसके चारों ओर कुशद्वीप है, उसके चारों ओर मक्खन का समुद्र है, उसके चारों ओर क्रौंच द्वीप है, उसके चारों ओर दधि सागर है, उसके चारों ओर शाल्मलि द्वीप है, उसके चारों ओर शराब का समुद्र है, उसके चारों ओर गोमेद द्वीप है, उसके चारों ओर चीनी का समुद्र है और अन्त में पुष्कर द्वीप है जिसके चारों ओर मीठा समुद्र है। (अध्याय २१ मत्स्यपुराण से उद्धृत किया हुआ) इससे अधिक शुद्ध भारतवर्ष के प्रान्तों का वृत्तान्त वायु पुराण से अलबेरूनी ने उद्धृत किया है। कुरु, पञ्चाल, काशी, कोशल इत्यादि मध्य भारतवर्ष में रहने वाले थे। अन्ध्र (मगध में), वङ्गीय, ताम्रलिप्तिक इत्यादि लोग पूरब में रहते थे। पाण्ड्य, केरल, चोल, महाराष्ट्र, कलिङ्ग, वैधर्व, अन्ध्र, (दक्षिण में) नासिक्य, सौराष्ट्र इत्यादि लोग दक्षिण में रहते थे"। भोज मालव, हून, (उस समय पञ्जाब का कुछ भाग हून लोगों के अधिकार में था) इत्यादि लोग पश्चिम में रहते थे और पहलव (पारस के लोग) गन्धार, यवन, सिन्धु, शक, इत्यादि लोग उत्तर में थे (अध्याय २९)।

अलबेरूनी हिन्दुओं के अङ्क गणित और अङ्कों के विषय में कुछ वर्णन करता है और लिखता है कि इस शास्त्र में हिन्दू लोग संसार की सब जातियों से बढ़ कर हैं। "मैंने अनेक भाषाओं के अङ्कों के नामों को सीखा है परन्तु मैंने किसी जाति में भी हज़ार के आगे के लिये कोई नाम नहीं पाया परन्तु हिन्दू लोगों में "अट्ठारह अङ्क की संख्याओं तक के नाम हैं और वे उसे परार्द्ध कहते हैं। (अध्याय १६)

हमारा ग्रन्थकार भारतवर्ष में प्रचलित भिन्न भिन्न आकार की वर्णमाला का भी उल्लेख करता है, अर्थात् सिद्धमात्रिका जो कि काश्मीर और बनारस में लिखी जाती थी, नागर जिसका प्रचार मालवा में था, अर्द्धनागरी, मारवाड़ी, सिन्धव, कर्नाट, अन्ध्री, द्राविड़ी, गौड़ी, इत्यादि। यह गौड़ी निस्सन्देह बङ्गाल की वर्णमाला है। और भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न वस्तुएं लिखने के काम में लाई जाती थीं। कहीं पर तालपत्र, उत्तर और मध्य भारतवर्ष में भूर्ज इत्यादि। (अध्याय १६)

एक अध्याय में हिन्दू वैद्यकशास्त्र का भी वर्णन है। जान पड़ता है यह शास्त्र सदा से बहुत थोड़े लोगों के अधिकार में था और उसके विषय में बहुत से मिथ्या विचार प्रचलित थे। मूर्ख पाखण्डी लोग रसायन के द्वारा वृद्ध को युवा बनाने के समान बहुत सी अद्भुत बातों के करने का पाखण्ड करते थे और इस प्रकार मूर्ख लोगों का धन हरण करते थे। जिस प्रकार युरोप में मध्यकाल में राजा लोग धातुओं का सोना बनाने के लिये बेहद लालची हो रहे थे वही दशा भारतवर्ष के राजा लोगों की भी थी और पाखण्डी लोग इस अद्भुत कार्य्य को सिद्ध करने के लिये बहुत से निरर्थक और अमानुषिक विधानों को बतलाते थे।

वास्तव में भारतवर्ष की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी से यूरोप के मध्यकाल की कई बातों में समानता पाई जाती है। एक उत्तम धर्म्म मानों पुजेरियों की बपौती हो गया था परन्तु मिथ्या विश्वास और मूर्तिपूजा ने धर्म्म को बहुत कुछ बिगाड़ दिया था। युद्ध और राज्य करना एक दूसरी ही जाति की बपौती हो गई थी अर्थात् भारतवर्ष में राजपूत क्षत्रियों की

और यूरोप में फ्यूडल बेरन लोगों को और इन दोनों ही ने पहिले के अन्धकारमय समय के झगड़ों में प्रभुत्व पाया था, दोनों ही देश में समान रीति से लोग मूर्ख उत्साहहीन और दासवत थे। अगष्टस और विक्रमादित्य के समय के कवियों का लोप हो गया था और उनके उपरान्त उनके स्थान की पूर्ति करने वाला कोई नहीं रहा था। विज्ञान और विद्या के भी बड़े बड़े पण्डितों के नाम अब केवल कहानी से हो गए थे और मानो इस समानता को पूर्ण करने के लिये लेटिन और प्राकृत—संस्कृत भाषाओं के स्थान पर आधुनिक भाषाएं बोली जाने लगीं, युरोप में इटेलियन, फ्रेंच और स्पेनिश भाषाएं और भारतवर्ष में हिन्दी इत्यादि। लोग मूर्ख रक्खे जाते थे और उनमें मिथ्या धर्म्म प्रचलित थे और वे भड़कीले तथा कभी न समाप्त होने वाले त्यौहारों में लगाए गए। सब बातें छिन्न भिन्न और नाश को प्राप्त हुई जान पड़ती थीं और जातीय जीवन का पूरा लोप जान पड़ता था।

परन्तु यहां समानता का अन्त होता है, यूरोप के बलवान फ्यूडल बेरन लोग शीघ्र ही सर्वसाधारण के साथ हिल मिल गए, उन्होंने रणक्षेत्र राजसभा वा व्यापार में सर्व साधारण के लिये उद्योग किया और इस प्रकार आधुनिक जातियों में एक नए उत्साह और जीवन का संचार किया परन्तु भारतवर्ष में जाति भेद ने ऐसे हेल मेल को रोक रक्खा था और राजपूत क्षत्रिय लोग सर्व साधारण से जुदे रह कर शीघ्र ही विदेशी आक्रमण करने वालों का शिकार हो गए और इस प्रकार उन सब का सत्यानाश हो गया।

हिन्दुओं को अपने जातिभेद और राजकीय दुर्बलता के लिये भारी दण्ड देना पड़ा है। सन् १२०० ई० के

उपरान्त छ शताब्दियों तक हिन्दुओं का इतिहास शून्य है। ४००० वर्ष हुए कि पृथ्वी की आर्य्य जाति में केवल वे ही सब से सभ्य थे और आज दिन पृथ्वी की आर्य्य जाति में केवल वे ही लोग सामाजिक दृष्टि से निर्जीव और राजकीय दृष्टि से गिरे हुए हैं।

छः शताब्दियों तक जीवहीन रहने के उपरान्त अब उनमें पुनर्जीवित होने के कुछ चिन्ह मिलते हैं। अब उनमें धर्म्म के मृत रूपों का उल्लंघन करने और शुद्ध दृढ़ और जीव देने वाले धर्म्म का प्रचार करने का उद्योग पाया जाता है। अब सामाजिक ऐक्य उत्पन्न करने का भी उद्योग हो रहा है जो कि जातीय ऐक्य की जड़ है। लोगों में जातीय ज्ञान का उदय हो रहा है।

कदाचित प्राचीन जाति में एक नए और उत्तम जीवन को देने का यत्न इङ्गलैण्ड को ही बदा है। आधुनिक सभ्यता के पुनर्जीवित करने वाले प्रभाव से यूनानी और इटली की प्राचीन जातियों में इक नई बुद्धि और जातीय जीवन का उदय हुआ है। अंग्रेज़ी राज्य की उत्तम रक्षा में अमेरिका और आस्ट्रेलिया में नई जातियां स्वराज्य और सभ्यता में उन्नति कर रही हैं। सभ्यता का प्रभाव और उन्नति का प्रकाश अब गङ्गा के तटों में भी फैलेगा। और यदि आधुनिक यूरोप के विज्ञान और विद्या सहानुभूति और उदाहरण से हम लोगों को जातीय जीवन और ज्ञान को प्राप्त करने में कुछ सहायता मिली तो यूरोप आधुनिक भारतवर्ष को उस सहायता का बदला चुका देगा जो कि प्राचीन समय में भारतवर्ष ने यूरोप को धर्म्म विज्ञान और सभ्यता में पहुँचाई थी।

॥ इति ॥